UNIVERSAL LIBRARY
OU_186078
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81 B11A   Accession No. H 3154

Author बेज्ञान

Title आरती और अंगारे

This book should be returned on or before the date last marked below.

आरती और अंगारे

बच्चन

जपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली-६

पहला संस्करण—मार्च १९५८

दूसरा संस्करण—मार्च १९६०

मूल्य	:	चार रुपये
प्रकाशक	:	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक	:	हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

तेजी को

'अर्पित तुमको मेरी आशा, और निराशा, और पिपासा'

अपने पाठकों से

अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि वड्र्सवर्थ ने कहा था कि प्रत्येक कवि को वह विशेष अभिरुचि उत्पन्न करनी होती है जिससे उसकी कविता का आनंद लिया जा सके। कहने का तात्पर्य यह है कि उसे अपने पाठकों और श्रोताओं का एक वर्ग तैयार करना पड़ता है। वह विशेष अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए कवि अपनी कविता के अतिरिक्त किन और उपकरणों का उपयोग कर सकता है, इसपर मैं अपना दिमाग़ दौड़ा सकता हूँ। उदाहरणार्थ, वह अपनी भूमिका अथवा लेखों के द्वारा यह बता सकता है कि उसकी रचना उसके पूर्ववर्तियों अथवा समकालीनों से किन अर्थों में भिन्न है; उसने कौन-से विषय अपनाए हैं, कौन छोड़े हैं; किस प्रकार की भाषा का उपयोग किया है, किस प्रकार की तकनीक का प्रयोग किया है; जीवन की किन मान्यताओं को मुखरित करने के लिए वह लिखता है और अपने पाठकों अथवा श्रोताओं पर किस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है। यह सब करने का साहस वही कर सकता है जिसमें अपने कवि के प्रति अदम्य विश्वास हो; दुस्साहसी काव्य के क्षेत्र में भी होते हैं। वड्र्सवर्थ में यह विश्वास था और उन्होंने इस प्रकार का बहुत कुछ लिखा भी। लिखने की आवश्यकता थी और उसके द्वारा वे अपनी कविता के प्रेमियों का एक वर्ग बनाने में सफल हुए। हिंदी कवियों में यह विश्वास श्री सुमित्रानंदन पंत में था और उन्होंने अपनी प्रथम कृति 'पल्लव' ('उच्छ्वास' नाम्नी लघु पुस्तिका तो प्रायः मित्रों में बाँटने के लिए खानगी तौर पर छपाई गई थी) की भूमिका से कुछ इसी प्रकार का कार्य किया।

मुझे अपने कवि में विश्वास कभी नहीं था; आज भी नहीं है; कभी आगे भी हो सकेगा, इसमें संदेह है। मनःस्थितियों और परिस्थितियों के प्रति जिस प्रकार की मेरी प्रतिक्रिया होती है और प्रतिक्रिया होने पर जिस प्रकार की अभिव्यक्ति मैं उसे देता हूँ, यदि वह कवियों की सी है तो मैं कवि हूँ, यदि वह अभिव्यक्ति कविता-सी है तो जो मैं लिखता हूँ वह कविता है।

इसे परंपरा से चली आती हुई कविता के प्रति मेरी आस्था भर न समझा जाय। जब मैंने लिखा था :

'क्यों कवि कहकर संसार मुझे अपनाए,
मैं दुनिया का हूँ एक नया दीवाना।'

(मधुबाला)

या

'कविता कहकर जग ने तेरे क्रंदन का उपहास किया।'

(निशा निमंत्रण)

अथवा

'कवियों की श्रेणी से अब से मेरा नाम हटा दो।'

(मिलन यामिनी)

या

'मैंने ऐसा कुछ कवियों से सुन रक्खा था'—आदि-आदि।

(आरती और अंगारे)

तब अपने मन का एक सहज भाव ही प्रतिध्वनित कर रहा था। ये प्रतिक्रियाएँ, ये अभिव्यक्तियाँ मेरे लिए स्वाभाविक हैं। ये प्रक्रियाएँ मेरे सामान्य मानव के ही अंतर्गत हैं, इतनी निकटता से, इतनी अनिवार्यता से कि मेरे साथ इनकी संगति बिठलाने के लिए किसीको मुझे कवि की अतिरिक्त संज्ञा देने की आवश्यकता नहीं; मेरे फूट पड़ने को छन्द बनाने, मेरे रोदन, गायन, क्रन्दन—मेरे उद्गारों को कविता कहने की ज़रूरत नहीं।

बाबा तुलसीदास ने जब लिखा था कि 'कवि न होउँ' तो मेरी समझ में यह केवल नम्रता-प्रदर्शन न था। भक्ति से अंतर भर जाने पर राम-गुन-गान उनकी स्वाभाविक प्रक्रिया हो गई होगी। और उन्हें सचमुच लगा होगा कि मैं कवि नहीं हूँ, जो कुछ लिख रहा हूँ वह तो मेरे सहज मानव का सहज काम है। ख़ैर, बड़ों की बात बड़े जानें। मैंने अपनी अनुभूति आपको बता दी।

तब जैसे मैं हूँ, वैसे ही मेरी अभिव्यक्ति है। मैं यह कहने नहीं जाता कि मैं दूसरों से कितना भिन्न हूँ, कितना उनके समान हूँ; मैंने जीवन में क्या अपनाया है, क्या छोड़ा है; कैसा मेरा रहन-सहन है, बोल-चाल है, बात-

व्यवहार है; क्या मेरे श्रेय-प्रेय हैं; जो मेरे चारों तरफ हैं, उनसे मैं क्या पाना चाहता हूँ; उन्हें क्या देना चाहता हूँ; उनसे अपने किन विचारभावों का आदान-प्रदान करना चाहता हूँ। अंग्रेज़ी में कहना चाहूँगा, 'आई लिव देम।' मैं यह सब बर्तता हूँ। इन सब चीज़ों का सम्मिलित नाम है मेरा व्यक्तित्व। मेरी अभिव्यक्ति का भी एक व्यक्तित्व है।

तब जैसे मैंने अपने व्यक्तित्व से, अपनी सम्पूर्ण इकाई से अपने लिए 'अरि, मित्र, उदासी' बनाए हैं, वैसे ही मेरी अभिव्यक्ति भी बनाए। यदि मैं समाज के बीच अपने लिए कोई अभिरुचि जगा सका हूँ तो मेरी अभिव्यक्ति भी जगाए।

इसी आस्था से अपनी अभिव्यक्ति—अपनी कविता—के अतिरिक्त अन्य किन्हीं उपकरणों का आश्रय लेने की न मैंने कभी बात सोची और न मुझे इसकी आवश्यकता पड़ी।

यदा-कदा बाल-प्रयासों की गणना न करूँ तो चार-पाँच वर्षों के सतत अभ्यास के पश्चात् १९३३ में मैंने 'मधुशाला' लिखी और उसके साथ ही मैंने अपने श्रोताओं और पाठकों का वर्ग तैयार पाया। वड्र्सवर्थ या श्री सुमित्रानन्दन पंत जैसे कवियों में अपने कवि के प्रति मुझसे कहीं अधिक आत्म-विश्वास भले ही रहा हो, भाग्यवान मैं उनसे कहीं अधिक था। उनसे कहीं अधिक मुझे अपनी कविता में विश्वास था, क्योंकि मुझे अपने में, अपने मानव में विश्वास था। और अगर कुछ उस कविता के शत्रु बने, कुछ उससे उदासीन रहे तो इसपर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ। मेरे भी शत्रु हैं, मुझसे भी उदासीन रहनेवाले लोग हैं। सजीव व्यक्तित्व और सजीव कवित्व के प्रति प्रायः इस प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। निर्जीवों की उपेक्षा की जाती है।

और न मेरा व्यक्तित्व ही सुस्थिर है और न मेरा कवित्व ही। दोनों का विकास होता रहा है। पर, जहाँ मेरे कल का व्यक्तित्व मेरे आज के व्यक्तित्व में समा गया है और उसकी अलग कोई सत्ता नहीं रह गई, वहाँ मेरी कल की कविता भी मौजूद है और आज की भी मौजूद है। जैसे मेरे कल के व्यक्तित्व में आज का व्यक्तित्व बीज-रूप से वर्तमान था, जैसे मेरे आज के व्यक्तित्व में मेरे कल का व्यक्तित्व भी समाया है, वैसे ही 'मधुशाला' में भी 'आरती' का कुछ प्रकाश और 'अंगारे' की कुछ चिनगारियाँ

मौजूद थीं और 'आरती और अंगारे' में 'मधुशाला' का रंग-राग किसी न किसी रूप में समाया है और इसी प्रकार मेरी आगे की रचना में भी 'आरती' का कुछ धूप और 'अंगारे' का कुछ ताप रहेगा। मेरी प्रथम रचना की क्षमताएँ—इनमें शक्तियाँ और कमज़ोरियाँ दोनों सम्मिलित हैं—मेरी अंतिम रचना ही सिद्ध कर सकेगी; मेरी अंतिम रचना ही बताएगी कि मेरी प्रथम रचना में क्या संभावनाएँ थीं। नाम प्रासंगिक हैं, सिद्धान्त को अमूर्त होने से बचाने के लिए। कहने का मतलब है, जैसे मेरा जीवन सांगिक (आरगेनिक) है वैसे ही मेरी कविता भी है।

व्यक्ति का विकास शून्य में नहीं होता, समाज में होता है। समाज का बड़ा व्यापक अर्थ है। यह और बात है कि कुछ लोग समाज को समझते हैं, किसान-मज़दूर सभा। मैं यह माननेवाला हूँ कि समाज से पलायन की प्रवृत्ति भी समाज में रहकर जागती है। मेरा व्यक्ति भी समाज में विकसित हुआ है और मेरी अभिव्यक्ति भी समाज में विकसित हुई है। और दोनों ने जो रूप आज लिया है—चेतन और अवचेतन कारणों से—वह विकास की एक दिशा है। इससे भिन्न दिशाएँ भी हो सकती हैं और हैं भी; और इसे मानने का मेरे पास कोई कारण नहीं कि मेरा विकास अद्वितीय है। तब, मेरी ही तरह बहुतों का विकास हो सकता है; मेरी ही सी मिलती-जुलती दिशा में। मैं उन बहुतों को देखता रहा हूँ और वे मुझे देखते रहे हैं; और हमने विचार-भाव-अनुभवों के पारस्परिक आदान-प्रदान से एक-दूसरे से प्रेरणा ली है, एक-दूसरे को प्रोत्साहन दिया है। इसमें मेरी अभिव्यक्ति भी एक साधन रही है, शायद सब साधनों में अधिक प्रमुख और मुखर भी।

आप मेरे पाठक हैं तो मैं यह मान लेता हूँ कि आपने मेरी अभिव्यक्ति को उसकी साधारणता-स्वाभाविकता, उसके व्यक्तित्व-आकर्षण, उसकी सजीवता-सांगिकता और उससे सह एवं सम अनुभूति के कारण स्वीकार किया है। यानी आपने उसे वैसे ही स्वीकार किया है जैसे मेरे मित्र मुझे स्वीकार करते हैं।

यह तो केवल भूमिका हुई। मेरी अभिव्यक्ति और आपमें जो संबंध है उसे मुझे बदलना नहीं—उसके बढ़ने-घटने के लिए मैं एक को ही जिम्मेदार नहीं समझूँगा। बहरहाल, वह जैसा है उससे मुझे पूरा संतोष है।

बहुतों को यह ईर्ष्या का विषय भी है। कभी-कभी जीवन में अपने संबंधों के प्रति सचेत होने की भी आवश्यकता होती है। इन पंक्तियों से आपका कुछ और विश्वास पा और अपने में कुछ और आत्म-विश्वास जगा आपसे कुछ कहना चाहता हूँ।

अपनी कविताओं का एक नया संग्रह आपके सामने रख रहा हूँ। इनमें से बहुत-से गीत समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। आपने इन्हें पढ़ा होगा और अपनी तरह से आपकी प्रतिक्रिया हुई होगी। मैं प्रायः गीत ही लिखता रहा हूँ। गीतों की एक अपनी इकाई होती है—भावों, विचारों की; और एक हद तक अभिव्यक्ति के उपकरणों की भी; और उनका आनंद लेने के लिए किसी टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक गीत को सर्व-स्वतन्त्र, अपराश्रित और अपने में ही परिपूर्ण मानकर प्रायः पढ़ा या गाया जाता है और उसका रस लिया जाता है। अब यह गीतकार का काम है कि गीतों की परिमित परिधि के भीतर ही भावों का उद्रेक और विकास कर उन्हें वांछित परिणति पर पहुँचा दे। आप कह सकते हैं कि अगर ऐसी बात है तो इस प्रकार इन गीतों की पेशबंदी करने की ज़रूरत आपको क्यों हुई ?

अगर आपको मेरी कविता से प्रेम है तो आपने मेरे पिछले गीत-संग्रह भी देखे होंगे, जैसे निशा निमंत्रण, सतरंगिनी, मिलन यामिनी आदि। ये हैं तो गीत-संग्रह, पर उनको मैं केवल गीत-संग्रह नहीं मानता; आपने भी ऐसा नहीं माना होगा। इन संग्रहों में एकसूत्रता है; भावना और अभिव्यक्ति के उपकरणों की भी एक बड़ी इकाई है जो सबपर छाई है, जो प्रत्येक गीत के स्वच्छन्द व्यक्तित्व के बावजूद सबको एक-दूसरे से अनिवार्य रूप में बँधा या जुड़ा सिद्ध करती है। कारण इसका यह है कि किन्हीं भावनाओं ने मुझे कुछ समय तक अभिभूत कर रक्खा है और इस बीच लिखे गीतों में एक प्रकार की समानता आ गई है। शायद परिस्थितियाँ मेरे अनुकूल होतीं तो उस भावना से मैं कोई लम्बी कविता या खंड-काव्य जैसी कोई चीज़ लिख सकता था—महाकाव्य के नाम से ही मैं आतंकित हो उठता हूँ। अक्सर मेरे मित्रों ने मुझसे कहा भी है कि तुम कोई लम्बी कविता क्यों नहीं लिखते; तुममें इसकी क्षमता है। शायद उनका कहना ठीक भी हो।

मेरा ऐसा ध्यान है कि लम्बी कविता लिखने के लिए कवि को अपने समय का मालिक होना चाहिए। कविता लिखने बैठे तो उसकी आँख न घड़ी पर हो और न कैलेंडर पर। मुझे ऐसा सुयोग नहीं मिल सका। मुझे अपने और अपने परिवार के लिए रोटी-कपड़ा जुटाने के लिए कई तरह के कबार करने पड़े हैं। लिखने बैठा हूँ, और, लो, वक्त हो गया है कि अब कचहरी पहुँचना है, अब यूनिवर्सिटी पहुँचना है, अब परेड पर हाज़िर होना है, अब दफ़्तर जाना है। प्रेरणा की घड़ियों पर घंटे-मिनट की सुइयों का शासन नहीं चलता, और जीवन की वास्तविकताएँ प्रेरणा की घड़ियों के प्रति न किसी प्रकार की उदारता दिखलाती हैं, न उनको किसी तरह की छूट देती हैं। यह नहीं हो सकता कि नौ बजकर ठीक तीस मिनट पर प्रेरणा के ग्रामोफ़ोन की सुई हटा दी जाय और चार बजकर तीस मिनट पर जहाँ से उठाई थी वहीं फिर लगा दी जाय। प्रेरणा की सुई हटी तो फिर हटी। मैंने तो उसे एक बार हटाकर फिर उसी जगह लगाना असम्भव ही पाया है।

पर मैं जीवन की वास्तविकताओं का आदर करता हूँ, उन्हें प्यार भी करता हूँ। कविता इसलिए नहीं लिखी कि और कुछ कर नहीं सकता या करना नहीं चाहता :

'सब जगह असमर्थ हूँ मैं इस वजह से तो नहीं तेरा हुआ हूँ।'

वास्तविकताएँ न हों तो जीवन का कोई अर्थ नहीं। कविता के बिना जीवन का अर्थ हो सकता है। लिखने के लिए मैं नहीं जीता, जीवन प्रशस्त करने के लिए लिखता हूँ। अगर मुझसे कोई कहे कि जाओ आज से तुम्हारी सारी फ़िक्रें मैंने अपने ऊपर ले लीं, तुम आराम से लिखो, तो मेरा लिखना बंद हो जायगा। कवि का यही चित्र मेरे मन को भाता है :

'बोझ सिर पर, कंठ में स्वर'···

हमारी अवधी में एक कहावत प्रचलित है, 'पूतौ मीत, भतारौ मीत, किरिया केकर खाउँ।' अर्थात् पुत्र भी प्यारा है, पति भी प्यारा है, किसकी कसम खाऊँ। जीवन की वास्तविकताएँ भी प्यारी हैं, प्रेरणा की घड़ियाँ भी प्यारी हैं, किनको बलिदान किया जाय। मैंने एक समझौता कर लिया है, और बहुत दिनों से उसे चला रहा हूँ। मैंने समझ लिया था कि लंबी रचना मेरे बस की नहीं। क्यों न अपनी उस भावना को, जो लंबी रचना माँगती है,

इस प्रकार विघटित कर दिया जाय कि उसके एक-एक खंड को लेकर छोटी-छोटी रचना कर दी जाय। घनी वास्तविकताओं के बीच भी घंटे दो घंटे का वक्त तो ऐसा निकाला ही जा सकता है कि उसमें इस छोटी-सी रचना को पूरा कर दिया जाय। मेरे संग्रहों में गीतों की अलग-अलग इकाई और उनकी पारस्परिक संबद्धता का शायद यही राज़ है।

यों एडगर एलेन पो के इस सिद्धांत में भी मुझे कुछ सत्यता प्रतीत होती है कि कविता तो लंबी हो ही नहीं सकती, क्योंकि मनुष्य का मस्तिष्क तीव्र भावनाओं के आवेग को अधिक समय तक नहीं झेल सकता। जब कविता लंबी होती है तब भावनाएँ अपनी गंभीरता से हटकर सिलपट हो जाती हैं। एक और अंग्रेज़ लेखक का कथन मुझे स्मरण है—उसका नाम भूल गया हूँ—कि प्रत्येक लंबी कविता अनेक छोटी कविताओं का धारावाहिक रूप है। संभव है, मेरी रचनाओं के पीछे मेरी सीमाएँ ही नहीं, इस प्रकार की कोई धारणा भी अनजाने काम कर रही हो। मैंने कभी इसका विशेष विश्लेषण नहीं किया।

'मिलन यामिनी' प्रकाशित कर देने के पश्चात् मेरे मन में कुछ ऐसे भावों-विचारों का मंथन आरंभ हुआ कि बहुत दिनों तक मैं यह निश्चय ही न कर पाया कि उनकी अभिव्यक्ति किस तरह से आरंभ करूँ। मूल बात मैं क्या कहना चाहता हूँ, यह तो स्पष्ट थी। वह अभी नहीं बताऊँगा। पर जब उसकी अभिव्यक्ति के रूप की कल्पना की तो मुझे लगा कि जैसे किसी महान् काव्य (महाकाव्य नहीं) के प्राणों की धड़कन सुन रहा हूँ। इससे मैं डरकर भागा। इसे भूल जाने के लिए मैंने कई उपाय किए। धड़कनें बंद नहीं हुईं। मैं उसे अपनी छाती में ले गया तो मेरा विस्फोट ही हो जायगा। और तब वही समझौता, वही विघटन की रीति काम आई। गीतों से ही उसको व्यक्त करूँगा, पर इसके लिए ढाई-तीन सौ गीत लिखने होंगे।

पचीस-तीस गीत लिखे थे कि मैं इंग्लैंड चला गया। अपनी डाक्टरेट के संबंध में वहाँ बहुत कुछ पढ़ना-लिखना था। रमणीक देश था, बहुत कुछ देखना-करना भी था। फिर भी वहाँ सौ से ऊपर कविताएँ लिखीं, जिनमें कुछ मुक्त छंद की भी थीं और यह स्वभाविक ही है कि इन बहुत-सी कविताओं में मेरे प्रवास की अनुभूति और वातावरण की छाप पड़ी है—कहाँ और

कैसे, इसे देखना, मेरी समझ में, कल्पना-प्रवण पाठक के लिए कठिन नहीं होना चाहिए। मेरे प्रवास में ये मेरे गीत देश की पत्रिकाओं में छपते रहे।

यह भी सोच लिया था कि इस बड़े संग्रह का नाम क्या दिया जाय। बाबा तुलसीदास के गीत-संग्रह 'विनय पत्रिका' से यह प्रेरणा ली कि इसे 'प्रणय पत्रिका' कहा जाय। उसका बीज-मंत्र विराग, तो इसका राग। विराग की उस आकाशी स्थिति को तो विरले संत ही पा सकते हैं, पर अपनी इस धरती पर जो बहुरंग अनुभूतियाँ हैं वे भी हमारी आस्था माँगती हैं और हमारे कंठों से मुखरित होने का अधिकार रखती हैं और उन्हींको वाणी देने का प्रयास इन गीतों में किया गया। पर शायद एक स्थिति ऐसी भी है जहाँ राग और विराग एकाकार हो जाते हैं और दोनों मिलकर एक ऐसे जीवन की संवर्द्धना करते हैं जो दोनों से परे हैं।

'प्रणय पत्रिका' शीर्षक से ही कई गीत पत्र-पत्रिकाओं में निकले। इंग्लैंड से लौटने पर गीतों को देखकर, जिनकी संख्या अब सौ से ऊपर पहुँच चुकी थी, मुझे यह आभास हुआ कि अभी जो कुछ कहना चाहिए था उसका एक भाग ही कहा गया है, और मैंने कविताओं को संग्रह का रूप देने का विचार छोड़ दिया। परन्तु, मेरे बहुत-से पाठक जो गीतों को पत्रों में देख चुके थे, उन्हें संग्रह-रूप में देखने को उत्सुक थे। इसलिए उनसठ गीतों का एक संग्रह मैंने 'प्रणय पत्रिका' के नाम से प्रकाशित कर दिया। इंग्लैंड से लौटकर मैं बहुत अस्वस्थ हो गया था। पुस्तक ज्यों-त्यों प्रेस में दे दी गई। एक मेरे विद्यार्थी ने चयन किया; मैंने गिनती की चार पंक्तियाँ भूमिका के नाम पर लिखीं। वास्तव में जो बातें मैं आज कह रहा हूँ, वे मुझे उस समय कहनी थीं।

अब सौ गीतों का यह संग्रह छप रहा है। ये सब 'प्रणय पत्रिका' की कल्पना के ही अंतर्गत हैं। कभी मेरे मन में आया था कि इसे 'प्रणय पत्रिका-दूसरा भाग' कहा जाए। फिर इस संग्रह को एक अलग सत्ता देने के विचार से इसे 'आरती और अंगारे' नाम दे दिया गया। मेरी कल्पना की 'प्रणय पत्रिका' अब भी पूरी नहीं है। जो अभी और कुछ कहने को है उसके लिए के मैं सौ-सवासौ गीत और लिखूं तो शायद कह सकूं कि मैंने अपनी कल्पना के प्रति न्याय किया। इन गीतों को मैं कब तक लिख सकूँगा, मैं नहीं जानता। शेष गीत लिखे जा सकें तो सबको मैं फिर से एक विशेष क्रम में रखकर एक

नाम से ही पुकारना चाहूँगा ।

१९५० में जो कल्पना मेरे मन में उठी थी, इन सात वर्षों में वह विकसित भी होती रही है । आगे चार-पाँच वर्षों तक, जब मैं उसे पूर्णतया अभि व्यक्त करने की आशा रखता हूँ, इसका क्या रूप हो जाएगा, मैं स्वयं नहीं जानता ।

आपने कभी किसी चित्रकार को चित्र बनाते देखा है, उदाहरणार्थ किसी मनुष्य का चित्र ? वह ऐसा नहीं करता कि पहले नख बनाए, फिर उँगलियाँ, फिर पाँव, फिर पिंडुलियाँ, घुटने और उसी क्रम से चोटी तक पहुँच जाय । वह अपनी तूलिका से कभी एक रेखा पाँव की बनाता है, कभी सिर की, कभी हाथ की और इन रेखाओं में कोई क्रम, कोई संगति, कोई विकास देखना तब तक संभव नहीं जब तक चित्रकार की कल्पना न जान ली जाए । 'प्रणय पत्रिका' और 'आरती और अंगारे' के गीत उन्हीं रेखाओं के समान हैं जो अभी अपने स्थान पर भी नहीं । मुझे एक दूसरा रूपक सूझ रहा है जो अधिक समीचीन होगा । आपने देखा होगा, बच्चे एक तरह का खेल खेलते हैं । बाज़ारों में लकड़ी या गत्ते के ऐसे टुकड़ों के बक्स मिलते हैं जिनको अगर ठीक से जोड़ा जाय तो किसी आदमी या जानवर की आकृति बन जाती है । इन टुकड़ों को ढेरी में रख दिया जाय तो आदमी या जानवर का कोई आभास नहीं मिलता । मैं चाहूँगा कि मेरे गीत उन्हीं टुकड़ों के समान समझे जायँ । टुकड़े तो बिल्कुल निरर्थक होंगे । गीत होने के कारण प्रत्येक रचना अपना अलग अर्थ भी रखती है । जब तक मैं उनका क्रम स्थापित नहीं कर देता आपसे धीरज रखने की प्रार्थना कर सकता हूँ । 'विनय-पत्रिका' का खाका आप अपने सामने रक्खें । मैंने 'प्रणय पत्रिका' का खाका कुछ-कुछ वैसा ही रखने को सोचा है । जो भी गीत आपके सामने हैं, अगर आप चाहें तो, उनको एक नमूने के क्रम में लगा सकते हैं । मैंने दोनों संग्रहों के गीतों का जो क्रम अपने लिए बनाया है उसमें मुझे अपनी कल्पना के रूप का कुछ आभास तो मिलता है, पर बहुत-सी खाली जगहें भी दिखाई देती हैं । मुझे इन्हें भरना बाकी है ।

इन गीतों के बारे में मुझे सिर्फ दो-एक बातें और कहनी हैं । ये गीत हैं, इन्हें आँख से, मौन रहकर मत पढ़िए, इनको स्वर दीजिए, गाइए—

कुछ गीत गेय नहीं हैं, उन्हें सस्वर पढ़िए, भावानुरूप स्वर से। किसीसे गवाकर या पढ़ाकर सुनिए। यानी छपे हुए शब्दों की, जिसे अंग्रेज़ी में कहेंगे, 'माउदिंग' की जानी चाहिए; उन्हें मुख से 'मुखर' किया जाना चाहिए। सब गीतों को एक सिरे से दूसरे सिरे तक न पढ़ जाइए। यह उपन्यास नहीं है। मैं तो कोई अच्छा गीत सुन लेता हूँ तो बहुत देर तक दूसरा नहीं सुन सकता। कोई गीत आपको विशेष प्रिय लगे तो उसे फिर-फिर पढ़िए। अच्छा गीत दूसरी-तीसरी बार पढ़ने पर अधिक अच्छा लगना चाहिए।

अंत में एक आगाही। इस-उस कोने से आपको लोगों के ऐसे भी स्वर सुनाई देंगे कि अब गीतों का युग बीत गया है। आप अचरज मत कीजिएगा यदि ये लोग कल कहते सुने जायँ कि अब हँसने-रोने का, प्रेम करने का, संघर्षरत होने का युग बीत गया है। आज जो ऐसी बातें कह रहे हैं उन्हींके बाप-चाचों ने जब 'मधुशाला' निकली थी तो कहा था, यह मस्ती का राग अलापने का युग नहीं है; 'निशा निमंत्रण' निकला तो कहा था, यह रोदन-क्रंदन का युग नहीं है; 'सतरंगिनी' निकली तो कहा था, यह प्रेम के तराने उठाने का युग नहीं है; और उनके बेटों-भतीजों ने 'प्रणय पत्रिका' निकली तो कहा, यह तो बीते युग की बातें हैं। मेरे पाठकों ने इन तथा अन्य संग्रहों में जो सह एवं सम अनुभूति पाई है उसने उनके इन फ़तवों को गलत ही साबित किया है।

'प्रणय पत्रिका' का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया है। शीघ्र ही नया संस्करण छपेगा, और आप उसके और 'आरती और अंगारे' के गीतों को मेरी एक ही कल्पना के अन्तर्गत मानकर उनका रस लीजिए। आगे के गीत मैं 'मेरे और तुम्हारे बीच' शीर्षक से लिखना चाहूँगा जो आपको भविष्य में पत्र-पत्रिकाओं में मिलेंगे।

विदेश मंत्रालय,
नई दिल्ली।
१८-१२-१९५७

—बच्चन

(दूसरा संस्करण)

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि 'आरती और अंगारे' का दूसरा संस्करण प्रकाशित होने जा रहा है। इसकी आलोचना हिन्दी की प्रायः सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में हुई और मैं उन सब आलोचकों का आभारी हूँ जिन्होंने मेरी इस कृति की ओर अपने-अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। आलोचनाओं की रेंज (फैलाव) की ओर जब मैं ध्यान देता हूँ तो याद आता है एक ओर जहाँ इन कविताओं को उच्चकोटि का बताया गया वहाँ दूसरी ओर एक आलोचक ने बस इतना लिखकर इनकी समालोचना करने से ही इन्कार कर दिया कि ये कविता ही नहीं हैं। हिन्दी समालोचना-संसार में जो अराजकता, अनस्थिरता, वाद-परस्ती, पार्टीबन्दी, ईर्ष्या-द्वेष-विकृति, पूर्वाग्रही प्रवृत्ति, कुंठाजनित अहम्मन्यता, और एक सद्यःप्रसूत महा-विष प्रान्तीयता फैल रही है उसका एक सबूत यहाँ है। ऐसी परिस्थिति में इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के खरीदारों ने मुझे यह स्वस्थ आश्वासन भी दिया है कि हिन्दी में ऐसे पाठकों का वर्ग अभी शेष है जो काव्योपजीवी है, जो काव्य से जीवन के लिए रस एवं प्रेरणा ग्रहण करता है, काव्य को जीवन के मापदंड से नापता है, और पेशेवर समालोचकों के उछाल-उखाड़ से अछूता और अप्रभावित रहता है। इस वर्ग में मेरा विश्वास इतना ही दृढ़ है जितना अपने जीवन में, जीवन की भावनाओं और प्रतिक्रियाओं में। कविता का क्या है, कविता तो उन्हींकी तीव्रता से प्रसूत होती है और जितने हृदयों में कवि की सम एवं सह अनुभूति होती है उतने हृदयों में प्रतिध्वनित होती है। जीवन की अनुभूतियों का मुझे इतना भरोसा है कि मैंने उन्हींपर अभिव्यक्ति का रूप निर्धारित करने का भार भी छोड़ दिया है—विषय, भाषा, छन्द, शैली आदि-आदि। यदि किसी समय कविता किसी ऐसी चीज़

को कहा जाए जो जीवनानुभूति के गीत-चीत्कार से भिन्न हो तो मैं कोई ऐसी तरकीब नहीं जानता जो मुझे कवि बना सके।

'आरती और अंगारे' के नये पाठकों को यह आश्वासन होना चाहिए कि वे एक ऐसे वर्ग के साथ हैं जो बहुत छोटा—राशि और गुण दोनों में—नहीं है।

—बच्चन

१३, विलिंगडन क्रीसेंट
नई दिल्ली-२
२२-२-६०

गीतों की प्रथम पंक्ति-सूची

प्रथम पंक्ति	पृष्ठ
१. मेरा कवि गज गरिमा समझे, मेरी कविता हो गजगामी	२५
२. कानों में लय भर तू भर दे, गीत बसा लूँगा मैं, माये	२७
३. ओ, वेदों की स्वर्गीय गिरा के गायक	२९
४. तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ	३१
५. 'भारत के हे गंभीर-धीर स्वर-साधक	३३
६. ओ, उज्जयिनी के वाक्‌जयी जगवंदन	३५
७. कविराजराज जयदेव, तुम्हारी जय हो	३७
८. पंडित-राजा जगन्नाथ की तुमको याद दिलाता हूँ	३९
९. रासो-रचनाकार, तुम्हारे प्रति मेरी वाणी आभारी	४१
१०. मिथिला के रसमय मधुवन के, हे, अमृतमय बोल सुहावन	४३
११. पूर्व-पश्चिम हैं गुँजाते गीत जो, हे पीर, तुमने बैठ करघे पर सुनाए	४५
१२. जायस के, हे, एक-नयन कवि, सगुन बनो तुम मेरे मग में	४७
१३. बारंबार प्रणाम तुम्हें है, राम-चरित के अमित पुजारी	४९
१४. सूर, पथ मुझको दिखाओ, पद-लगा हूँ मैं तुम्हारा	५१
१५. मीरा, मेरे मन का मंदिर करता है तेरी अगवानी	५३
१६. कठिन काव्य के प्रेत, न डालो, मुझपर अपनी छाया	५५
१७. रहिमन, एक समाधि तुम्हारी मेरे मन के अंदर भी है	५८
१८. नर कवि भारतेन्दु गर होते आज, उन्हें भर कंठ लगाता	६०
१९. मैथिलीशरण थे हिन्दी के हित आए	६२
२०. सिंहनी शिशु को देकर जन्म चल बसी थी जंगल में एक	६४
२१. सौगंध खुदी की, मैं आहिस्ता बोलूँगा कहने दो कुछ टुक बैठ मीर के पैताने	६६

प्रथम पंक्ति	पृष्ठ
२२. ग़ालिब, वह ग़लबा ला दो मेरे जीवन में	६८
२३. मुल्क में, इक़बाल, जो तुम भर गये थे वह सदा, फिर-फिर निकलती	७०
२४. भारती की सुप्त वीणा को तुम्हींने फिर जगाया और गाया	७२
२५. मैं नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी[1]	७४
२६. ओ साँची के शिल्प-साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की	७८
२७. ओ अजंता की गुफाओं के अनामी, यश-अकामी चित्रकारो	८०
२८. खजुराहो के निडर कलाधर, अमर शिला में गान तुम्हारा	८३
२९. भुवनेश्वर की प्रणय-पत्रिका लिखनेवाली ओ पाषाणी	८५
३०. ललित काँगड़ा कलम कलित के रसिक-सुजान चलानेवालो	८७
३१. आज काँगड़ा की घाटी का राग बसे छाती में	८९
३२. जब व्यास उसासें भरता था, मैं कैसे जाकर सो जाता	९१
३३. मै हूँ उनका पौत्र, पड़ा था जिनके पाँव ग़दर का गोला	९४
३४. बाबा के सँग दादी की भी याद जगाना समुचित होगा	९६
३५. ललितपूर को नमस्कार है जहाँ पिता जन्मे थे मेरे	९९
३६. हर खुशी में, हर मुसीबत में मुझे, हे पूज्य, तुम हो याद आते	१०२
३७. हूँ उनकी औलाद जिन्होंने जीवन में थी भीति न जानी	१०४
३८. जीभ को तुमने सिखाया बोलना औ' गीत की लय कान में तुमने बसा दी	१०६
३९. याद आते हो मुझे तुम, ओ, लड़कपन के सबेरों के भिखारी	१०८
४०. हाय, शालिग्राम, तुम भाई न थे, तुम दाहिनी थे बाँह मेरी	११०
४१. राह कल्पना की तुमने ही सबसे पहले थी दिखलाई	११२
४२. मैं तुम्हें पत्नी समझ पाया कहाँ था, खेल की तुम थीं सहेली	११४
४३. श्यामा रानी थी पड़ी रोग की शय्या पर	११६
४४. गाता हूँ अपनी लय-भाषा सीख इलाहाबाद नगर से	११९
४५. तुम कभी नहीं मुड़कर पीछे देखा करते	१२१

१. विलियम बटलर ईट्स पर टिप्पणी पृष्ठ २४३ पर देखें।

प्रथम पंक्ति	पृष्ठ
४६. एक गीत ऐसा मैं गाऊँ, भूमि लगे स्वर्गों से प्यारी	१२५
४७. आज न मुझसे बोलो, अपने अंतस्तल में राग लिए मैं	१२७
४८. गीत मधुर-सुकुमार लिए तू	१२६
४६. अनमिल तार सभी बाहर के, अंदर के कुछ तार मिला लूँ	१३१
५०. काम शाहंशाह का है या फ़कीरों का बनाना गीत, गाना	१३३
५१. वन कोकिल का कंठ मुझे दो, कंधों को पर्वत के पर दो	१३५
५२. अंग से मेरे लगा तू अंग ऐसे, आज तू ही बोल मेरे भी गले से	१३७
५३. मैं प्रकृति-प्राकृत जनों का मान औ' गुनगान करना चाहता हूँ	१३६
५४. गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक़्त बहुतेरा पड़ा है	१४२
५५. रागिनी, मत छेड़ मुझको आज, मैं संसार से छेड़ा हुआ हूँ	१४४
५६. पीठ पर धर बोझ अपनी राह नापूँ, या किसी कलिकुंज में रम गीत गाऊँ	१४६
५७. बहुत दिए हैं, किस-किस पर तू वारेगा पर, हे परवाने	१४८
५८. धार पैनी देख उसपर फेरने को हाथ मैं बेज़ार होता	१५०
५६. तुम भोगो, तुम जो भाव-भरा मन लाए	१५२
६०. तुमने माँगा हृदय प्यार कर सकने वाला	१५४
६१. बावली-सी घूमती थी वह, उसे मैं देखते ही हो गया आसक्त	१५६
६२. याद-याद-सी शक्ल तुम्हारी, भूला-भूला नाम तुम्हारा	१५८
६३. संग तुम्हारे गाऊँगा मैं कब उठकर आनन्द विहंगिनि	१६०
६४. राज उन्हें करने को दो तुम राजसिंहासन	१६२
६५. कुछ साहस दो तो बात कहूँ मैं मन की	१६४
६६. बनकर केंद्र खड़ी तुम हो तो मैं जीवन की परिधि बनाऊँ	१६६
६७. मेरे मन-प्राणों को मथने को तुमको विधि ने सिरजा है	१६८
६८. इस रुपहरी चाँदनी में सो नहीं सकते पखेरू और हम भी	१७०
६६. न तुम सो रही हो, न मैं सो रहा हूँ	१७२
७०. आज चंचला की बाहों में उलझा दी हैं बाहें मैंने	१७४

प्रथम पंक्ति	पृष्ठ
७१. सुमुखि, तब मैं प्यार कर सकता तुम्हें था	१७६
७२. जिन कपाटों की तरफ मैं पीठ करता फिर न उनकी ओर अपनी दीठ करता	१७८
७३. सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को किस तरफ फैला रहा है	१८०
७४. आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर	१८२
७५. आज तुम घायल मृगी-सी आ रही हो, मैं न खोलूँ द्वार कैसे	१८४
७६. साथ भी रखता तुम्हें तो, राजहंसिनि	१८७
७७. धरती को फाड़ बहार निकल आई बाहर	१९०
७८. बौरे आमों पर बौराए भौंर न आए, कैसे समझूँ मधुऋतु आई	१९२
७९. धरती में सोए फूल, कली फिर जागो	१९४
८०. अब दिन बदले, घड़ियाँ बदलीं, साजन आए, सावन आया	१९६
८१. मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा, इसकी मुझको लाज नहीं है	१९८
८२. मैं तुम्हारा स्नेह, संवेदन, समादर चाहता हूँ	२००
८३. यह कमल का वास है, दादुर, इसे पहचान तू सकता नहीं है	२०३
८४. लाख देवता तुम हो, मेरी, किन्तु वेदना क्या जानोगे	२०५
८५. मैं सिफारिश से तुम्हारा प्यार पाऊँ, तो न पाऊँ	२०७
८६. मैं सदा संसार से लड़ता रहा हूँ	२०९
८७. और जो, ऊँचे उचकते, स्वाभिमानी, पैठ तू गहरे-गँभीरे	२११
८८. मेरे मन की पीर ओसकण समझेंगे, न कि तारे	२१३
८९. तारों का सारा नभमंडल, आँसू का नयनों का घेरा	२१५
९०. उम्र ही मेरी चुकी है बीत जीवन-विश्व से लड़ते-झगड़ते	२१७
९१. गूँजा करते हैं जो तेरे अंतर्मन में, उनमें कोई क्या झीना स्वर मेरा भी है	२१९
९२. माना मैंने मिट्टी, कंकड़, पत्थर पूजा	२२१
९३. दे मन का उपहार सभी को, ले चल मन का भार अकेले	२२३
९४. मैंने जीवन देखा, जीवन का गान किया	२२५

प्रथम पंक्ति	पृष्ठ
९५. ध्वनि साथ लिए जाता हूँ, प्रतिध्वनि छोड़े जाता हूँ	२२७
९६. मैंने ऐसा कुछ कवियों से सुन रक्खा था	२२९
९७. रात की हर साँस करती है प्रतीक्षा, द्वार कोई खटखटाएगा	२३२
९८. ओ भोले, दिग्भ्रांत बटोही, एक रास्ता अब भी है	२३५
९९. यह जीवन औ' संसार अधूरा इतना है कुछ बे तोड़े कुछ जोड़ नहीं सकता कोई	२३८
१००. मैं अभी ज़िंदा, अभी यह शव-परीक्षा मैं तुम्हें करने न दूँगा	२४०

१

मेरा कवि गज गरिमा समझे, मेरी कविता हो गजगामी।
निद्रा के नीलम अंबर से
स्वप्न-श्वेत गज अरुण जलज ले
मेरे मन-तड़ाग में उतरे,
लहरें उठ-उठ, गिर-गिर मचलें;
हो जाए जब जल-कोलाहल
शांत, कमल तल में आरोपे,
और अतल से एक उठे संगीत गगनभेदी अविरामी।
मेरा कवि गज गरिमा समझे, मेरी कविता हो गजगामी।

एलोरा - ऐरावत जैसे
भार पर्वताकार उठाए,
भारत की प्राचीन कला का,
संस्कृति का, बेपीठ झुकाए,
उसी तरह से नए हिंद की
नई ज़िंदगी, नई जवानी,
ताक़त, मस्ती, हस्ती, बनने को मेरी वाणी हो कामी।
मेरा कवि गज गरिमा समझे, मेरी कविता हो गजगामी।

धूलि उठा नित सिर पर धारे,
खोज करे उस रज के कण की,
जिसको छूकर ऊपर उठती
रूह्-रहित प्रतिमा पाहन की,
ढूह अगर मिट्टी के रोकें
राह, ढहा दे क्रीड़ा में ही,
औ' अपनी रौ चले भले ही भूकें श्वान, करें बदनामी।
मेरा कवि गज गरिमा समझे, मेरी कविता हो गजगामी।

गज को ग्राह मिला करते हैं
लेकिन इससे मत घबराए,
जग ज़िंदों से आशा करता
अपना बल परखें परखाएँ,
बस न चले, सबकी सीमा है,
तो यह दृढ़कर, एक जगह पर
झुकना उठने से बढ़कर है,
झुकना उठने से भी दुष्कर,
हो समर्थ अंतिम साहस कर कहने में, 'प्रभु, पाहि नमामी।'
मेरा कवि गज गरिमा समझे, मेरी कविता हो गजगामी।

२

कानों में लय भर तू भर दे, गीत बसा लूँगा मैं, माये !

अर्थ समझती बुद्धि जगाई,
शब्द समझते कान सयाने,
भाव समझता गह्वर अंतर,
लय में डूब-डूब अनजाने

जीवन के सब अंग उभरते
कोई अद्भुत-सी निधि लेकर;

कानों में लय भर तू भर दे, गीत बसा लूँगा मैं, माये !

लय, जिसकी गति पर नभमंडल
में तारक-दल देते फेरे,
नर्तन करती हैं छै ऋतुएँ,
आते-जाते साँझ-सबेरे,

हृदय प्रिया-प्रियतम के जिसपर
धड़का करते आलिंगन में,

वह मेरे सुर के बस हो तो, उर उकसा लूँगा मैं, माये !
कानों में लय भर तू भर दे, गीत बसा लूँगा मैं, माये !

काम-धाम से कब डरता मैं,
कब मिट्टी की निठुराई से,
पर यह काज नहीं सरता है
बस हाथों की चतुराई से, .

सुरभि स्वर्ग से उतरा करती,
पवन उसे बिखराता फिरता;
बीज-वपन केवल तू कर दे, फूल हँसा लूँगा मैं, माये !
कानों में लय भर तू भर दे, गीत बसा लूँगा मैं, माये !

मना किया सिर में लिखने को
जो, विधि ने उसको ही आँका,
नीरस को रसमय कर देना,
हो मेरी रसना का साका,
कवित, रसिक सुन तन-मन धुनता
तो कवि ने एहसान किया क्या ?
नयनों में घन बन तू छा जा, रस बरसा लूँगा मैं, माये !
कानों में लय भर तू भर दे, गीत बसा लूँगा मैं, माये !

३

ओ, वेदों की स्वर्गीय गिरा के गायक !

किस प्रभात का चपल पवन था
उसको छूकर आया,
जो उसकी सुकुमार सुरभि ने
तुमको विकल बनाया ?

किन तारों से उसके स्वर की
तुमने प्रतिध्वनि पाई ?—
ओ, वेदों की स्वर्गीय गिरा के गायक !—

जो तुमने गिरि-वन में जप-तप-
कर उसको मनुहारा,
देवपुरी के झूलों पर से
भू की सेज उतारा।

आर्य, तुम्हीं ने वाणी का
कौमार्य अछूता जाना;
तुम सर्वप्रथम उस मुग्धा के अधिनायक !
ओ, वेदों की स्वर्गीय गिरा के गायक !

ओसकणों से व्योम नगों तक
सार, शुभद, सुखदायी—
सब मन-तंत्री पर झंकृतकर
तुमने तान उठाई,

सामगान गाए, जिसपर
युग-कल्प रहे लहराते,
ओ, शब्द-सुरों के पहले भाग्य-विधायक !
ओ, वेदों की स्वर्गीय गिरा के गायक !

एक वेदना, एक व्यथा का,
एक दर्द का मारा,
जो उर कुछ कहने को आतुर
वह भी रक्त तुम्हारा,
अक्षय, अमर तुम्हारी निधि में
बालक-सा घबराया,
क्या माँगूँ अपने गीत-लयों के लायक।
ओ, वेदों की स्वर्गीय गिरा के गायक !

४

तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ।

बन-पर्वत पर फिरते-छिपते
बटमारों का नायक,
जपकर जिसको बन जाता है
महाकाव्य का गायक,
जो कि रहेगा थिर जब तक हिम-
शृंग, लहरमय गंगा,
सप्तर्षि सुझाया राजमंत्र दुहराऊँ।
तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ।

क्रौंच मिथुन की पीर तीर-सी
धँसी तुम्हारे उर में,
बीज रूप यह गाथा थी जो
घटी अयोध्यापुर में,
और घटित होती हर अंतर
में यह रामकहानी;
किस युग पीड़ा को उर के बीच बसाऊँ ?
तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ।

महाराग अब कहाँ भाग ले
जिसमें अग-जग सारा,

यही ग़नीमत है जाग्रत है
मानव का एकतारा,
चतुर गुनी उसपर भी जीवन
कुछ मुखरित कर लेते;
रस-अर्थ रहित ध्वनियों में मैं क्या गाऊँ।
तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ।

ओ, रस के घन सघन, छंद के
निर्झर श्रवण सुहावन,
अर्थों की सरिता, वर्णों के
वरुणागार सनातन,
पैठ कहाँ मंजुल मणियों में,
अपना जन्म सराहूँ,
क्षण बैठ किनारे सीप जुटा जो पाऊँ।
तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ।

५

'भारत के हे गंभीर-धीर स्वर-साधक !
तुम बोले तो लगा कि जैसे
जाग हिमाचल बोला,
तुम बोले तो लगा कि जैसे
कंठ सिंधु ने खोला,
सिर गिरि की चोटी-सा ऊँचा,
उर अंबुधि-सा गहरा,
भावना-ज्ञान के तुम समान अभिभावक !
'भारत के हे गंभीर-धीर स्वर-साधक !

लगे रहे किस वन में, कितने
युग किस तप-साधन में ?—
जीभ निकल आई पत्तों की
जगह गहन कानन में,
यह अरण्य-उद्घोष लेखनी-
बद्ध कौन कर पाता,
मिलते न अगर लेखक अनन्य गणनायक !
'भारत के हे गंभीर-धीर स्वर-साधक !

तीन लोक के देव-दनुज-
मनुजों की जीवन गाथा,

सिद्ध, तुम्हारे बिना कौन यह
एक साथ कह पाता,
'यन्नभारते तन्नभारते—'
सत्य नहीं इतना ही,
वह गेय नहीं, तुम गा न सके जो, गायक !
'भारत के हे गंभीर-धीर स्वर-साधक !

है अपार कांतार गलों से
बेशुमार जब गाता,
अचरज क्या जो एक विहंगम–
शिशु गाते शरमाता,
डूबे तो उस ठौर जहाँ से
मुट्ठी में कुछ आए,
छूटा क्या तुमसे, भवसागर-अवगाहक !
'भारत के हे गंभीर-धीर स्वर-साधक !

६

ओ, उज्जयिनी के वाक्-जयी जगवंदन !

तुम विक्रम नवरत्नों में थे,
यह इतिहास पुराना,
पर अपने - सच्चे राजा को
अब जग ने पहचाना,
तुम थे वह आदित्य, नवग्रह
जिसके देते फेरे,
तुमसे लज्जित शत विक्रम के सिंहासन।
ओ, उज्जयिनी के वाक्-जयी जगवंदन !

तुमने किस जादू के बिरवे
से वह लकड़ी काटी,
छूकर जिसको गुण-स्वभाव तज
काल, नियम, परिपाटी,
बोली प्रकृति, जगे मृत-मूर्च्छित
रघु-पुरु वंश पुरातन,
गंधर्व, अप्सरा, यक्ष, यक्षिणी, सुरगण।
ओ, उज्जयिनी के वाक्-जयी जगवंदन !

सूत्रधार, हे चिर उदार,
दे सबके मुख में भाषा,

तुमने कहा, कहो अब अपने
सुख, दुख, संशय, आशा;
पर अवनी से, अंतरिक्ष से,
अंबर, अमरपुरी से
सब लगे तुम्हारा ही करने अभिनंदन।
ओ, उज्जयिनी के वाक्-जयी जगवंदन !

बहु वरदानमयी वाणी के
कृपा-पात्र बहुतेरे,
देख तुम्हें ही, पर, वह बोली,
'कालिदास तुम मेरे';
दिया किसी को ध्यान, धैर्य,
करुणा, ममता, आश्वासन;
किया तुम्हींको उसने अपना
यौवन पूर्ण समर्पण;
तुम कवियों की ईर्ष्या के विषय चिरंतन।
ओ, उज्जयिनी के वाक्-जयी जगवंदन !

७

कविराजराज जयदेव, तुम्हारी जय हो !

देव गिरा से मैंने पूछा,
'सबसे सरस-पुनीता
संपति क्या तेरे मंदिर में ?'
बोलो, 'गीत कि गीता।'

गीत कि जिसमें तुमने राधा-
माधव-केलि बखानी,

जग की जड़, मृत मर्यादा से निर्भय हो।
कविराजराज जयदेव, तुम्हारी जय हो !

छुड़ा कृष्ण से भूमि-वासना—
व्रज-वधुओं की टोली,
जो लाया उस ठौर उन्हें, थीं
जहाँ राधिका भोली,

मूर्ति बनी स्वर्गिक सुषमा की,
वैभव और विभा की,

युग-युग पृथ्वी पर पूजित पुण्य प्रणय हों।
कविराजराज जयदेव, तुम्हारी जय हो !

औरों के आगे वाणी ने
बात कही या गाया,

या अपनी अद्भुत वीणा पर
कोई राग बजाया,
एक तुम्हारे ही उर-आँगन
में आकर वह नाची,
मंजीर-मुखर-प्रतिध्वनित पदों में लय हो।
कविराजराज जयदेव, तुम्हारी जय हो !
कोमल-कांत पदावलियों की
पहुँचा दी वह सीमा
तुमने, देव, कि अब सब गाने-
वालों का स्वर धीमा;
जिस मग पर तुम चले सहज नृप
की गौरव गरिमा से,
गुणवंत धरेंगे अपने चरण सभय हो।
कविराजराज जयदेव, तुम्हारी जय हो !

८

पंडित-राजा जगन्नाथ की तुमको याद दिलाता हूँ।
गति उनकी थी सहज, ज्ञान के गहरे पारावारों में,
मान मिला था उनको राजों, शाहों के दरबारों में,
इन बातों से बहुत प्रभावित होनेवाले दुनिया में,
मैं सराहता क्योंकि एक वे थे जग के दिलदारों में।
भीरु, नपुंसक, पाखंडी के गीत नहीं मैं गाता हूँ।
पंडित-राजा जगन्नाथ की तुमको याद दिलाता हूँ।

दक्षिण से उत्तर तक उनकी विद्वत्ता ने नापा था,
प्रतिभा उनकी देख महाविद्वानों का दल काँपा था,
पर जिससे दिल पुलके, पिघले, गले, ढले औ' बह जाए,
ऐसा भी तो राग उन्होंने अपने कंठ अलापा था।
सूखे, रूखे, रसहीनों के गीत नहीं मैं गाता हूँ।
पंडित-राजा जगन्नाथ की तुमको याद दिलाता हूँ।

सुना कि उनके छंदों को सुन गंगा भी लहराई थी,
संग प्रिया के बैठे थे वे जहाँ, वहाँ तक आई थी,
लहरों ने जब दिया निमंत्रण तब निर्भय हो दोनों ने
मरा हुआ तट छोड़ अमरता की धारा अपनाई थी।
निर्जीवों के, जड़-मुर्दों के गीत नहीं मैं गाता हूँ।
पंडित-राजा जगन्नाथ की तुमको याद दिलाता हूँ।

ठीक, उन्होंने एक सुनयनी यवनी को अपनाया था,
धर्म, समाज, प्रथा का सारा बंधन काट हटाया था,
प्यार किया करते हैं पौरुषवाले, क़ीमत देते हैं।
जिस कारण काशी के पंडों ने उनको ठुकराया था,
ठीक उसी कारण मैं उनको बीच सभा अपनाता हूँ।
पंडित-राजा जगन्नाथ की तुमको याद दिलाता हूँ।

९

रासो-रचनाकार, तुम्हारे प्रति मेरी वाणी आभारी।
विवश जीविकोपार्जन को मैं
हुआ न किस-किस पथ का राही,
पर मेरा वश चलता तो मैं
होता कवि के साथ सिपाही;

इसीलिए तस्वीर तुम्हारी,
वीर, बसी मेरे अंतर में,

घर पर चलता क़लम, समर में चलती थी तलवार तुम्हारी।
रासो-रचनाकार, तुम्हारे प्रति मेरी वाणी आभारी।

इस विस्तीर्ण रसा सरसा पर
भाव भेद, रस भेद अलेखे,
अपने छोटे-से जीवन में
मैंने जितने जाने—देखे,

वीर और शृंगार यही दो
ज़िंदा दिलवालों के पाए,

अपने शौर्य-वीर्य से तुम थे इन दोनों के सम अधिकारी।
रासो-रचनाकार, तुम्हारे प्रति मेरी वाणी आभारी।

अपभ्रंश की ऊबड़-खाबड़
जो अनगढ़ चट्टान खड़ी थी,

लौह लेखनी से तुमने ही
काट-छाँट वह मूर्ति गढ़ी थी
भाषा की, जिसपर कवि पीढ़ी–
दर-पीढ़ी श्रम करते आए,
हिंदी हिंद देश में तुमने थी सबसे पहले अवतारी।
रासो-रचनाकार, तुम्हारे प्रति मेरी वाणी आभारी।

भाषा मूर्ति नहीं पत्थर की—
मेरे कहने में कुछ गलती—
अष्टधातु की वह प्रतिमा है,
जो हर युग में गलती-ढलती,
तुमने तत्त्व दिए जो उसको,
और मिले हैं उनमें आकर,
एक गला सबको करना है
अंतस्तल में ज्वाल जगाकर;
हो सहाय इस महायज्ञ में कुछ मेरे मन की चिनगारी।
रासो-रचनाकार, तुम्हारे प्रति मेरी वाणी आभारी।

१०

मिथिला के रसमय मधुवन के, हे, अमृतमय बोल सुहावन।
जिस राजा-रानी को तुमने
रच-रच करके गीत सुनाए,
है उनका अस्तित्व कहाँ पर,
अब इसको इतिहास बताए,
पर उर-पुर शासक तुम तब थे,
अब हो, और रहोगे आगे;
शरण भूप शिवसिंह-लखिमा के आज तुम्हारे ही पद पावन।
मिथिला के रसमय मधुवन के, हे, अमृतमय बोल सुहावन।

थे न कबीर, न सूर, न तुलसी
और न थी जब बाँवरि मीरा,
तब तुमने ही मुखरित की थी
मानव के मानस की पीरा,
कौन गया था कर, कवि-शेखर,
आकुल-कातर प्राण तुम्हारा ?
कुसुम शरीर, हृदय पाहन का कौन तुम्हारा था मनभावन ?
मिथिला के रसमय मधुवन के, हे, अमृतमय बोल सुहावन।

कहाँ विरत चैतन्य महाप्रभु,
कहाँ मनुज ममता-रत, कामी,

पर विद्यापति के चरणों के
दोनों हैं बरबस अनुगामी,
सहस विरोधों का आलिंगन
कर चलती जीवन की धारा,
भीगेगा, बच कौन सकेगा बरसेगा जब झर-झर सावन।
मिथिला के रसमय मधुवन के, हे, अमृतमय बोल सुहावन।

लुटा चुकी थी अपना सब धन-
वैभव जब देवों की वाणी,
देसिल बयनों की क्षमता थी
तुमने, कवि-रंजन, पहचानी;
अश्रु लकीर तुम्हारे गालों
पर की अब गंभीर नदी है;
बाल चंद मिथिला की छत का भारत के नभ का शशि पूरन।
मिथिला के रसमय मधुवन के, हे, अमृतमय बोल सुहावन।

निर्माता, तुमने नव कविता
का तन-मन इस भाँति सँवारा,
दूर-सुदूर भविष्य तुम्हारे
हो शब्दों का खोज सहारा,
'जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल' कहेगा;
लाख-लाख युग हिय-हिय बसकर होगा ही वह तिल-तिल नूतन।
मिथिला के रसमय मधुवन के, हे, अमृतमय बोल सुहावन।

११

पूर्व-पश्चिम हैं गुँजाते गीत जो,
हे पीर, तुमने बैठ करघे पर सुनाए।
कुछ बढ़ा दाढ़ी, रँगा कपड़ा महंती
चाल दुनिया को दिखाना चाहते हैं,
कुछ जलाकर काम बनकर हींजड़ा निज
नाम संतों में लिखाना चाहते हैं,
किंतु जो पहुँचे हुए दरवेश उनको
भेस धरने की ज़रूरत कब हुई है;
पूर्व-पश्चिम हैं गुँजाते गीत जो,
हे पीर, तुमने बैठ करघे पर सुनाए।

हाथ ढरकी और कंघी से लगे थे,
आँख ताने और बाने से बँधी थी,
किंतु तन के काम मन के धाम को
छूते नहीं थे, साधना ऐसी सधी थी,
औ' वहाँ पर बज रही बाजंतरी थी,
और अनहद नाद में था गान होता,
प्र'ध्वनित था कंठ करता शब्द केवल
जो कि ब्रह्मानंद ने थे गुनगुनाए।
पूर्व-पश्चिम हैं गुँजाते गीत जो,
हे पीर, तुमने बैठ करघे पर सुनाए।

कह गए तुम बात अनहद की जहाँ तक
कौन उसके पार की कहने खड़ा है,
किंतु जीवन की हदों के बीच में भी
कम नहीं कहने-सुनाने को पड़ा है,
मानवों के दिल, दिलों की हसरतों को,
आस को औ' प्यास को औ' वासना को,
शोक, भय, शंका, महत्त्वाकांक्षा को
आज रक्खा जा नहीं सकता दबाए।
पूर्व-पश्चिम हैं गुँजाते गीत जो,
हे पीर, तुमने बैठ करघे पर सुनाए।

जो नियंता ने हृदय मुझको दिया था
अनुभवों से तूल-सा मैंने धुना है,
और उससे कातना तागे स्वरों के—
काम अपने वास्ते मैंने चुना है,
तान फैली है, नरी भी है भरी-सी,
हे जुलाहेशाह, बोलो कौन सुखमन,
कौन दुखमन तार से बीनूँ चदरिया
जो कि मेरे और जग के काम आए।
पूर्व-पश्चिम हैं गुँजाते गीत जो,
हे पीर, तुमने बैठ करघे पर सुनाए।

१२

जायस के, हे, एक-नयन कवि, सगुन बनो तुम मेरे मग में।
एक-दंत को सुमिर लेखनी
कवियों ने ली हाथ सदा ही,
एक-नयन की दीठ बचाता
आया, हर शुभ पथ का राही,
पर मैं शायर ढीठ, लीक से
हटने में संकोच मुझे क्या,
जायस के, हे, एक-नयन कवि, सगुन बनो तुम मेरे मग में।

जिसका बल, जिसकी वत्सलता
जानी मैंने माँ के पय से,
जिसकी प्रेम-पकी मादकता
मलिक मुहम्मद की मधु मै से,
जिसकी पावनता, तुलसी के
चरणों से निकली सुरसरि से,
उस भाषा की त्रिगुण त्रिवेणी क्यों न बहे मेरी रग-रग में।
जायस के, हे, एक-नयन कवि, सगुन बनो तुम मेरे मग में।

किंतु हृदय की प्यास आज है
उन मधु घूँटों की अभिलाषी,

जिनको पाकर छुए भावना
अतल, कल्पना हो आकाशी,
पर हो अपना नीड़ बनाए
अनुभव को छाती के अंदर,
और व्यंजना नापे शब्दों की चौमापी अवनी डग में।
जायस के, हे, एक-नयन कवि, सगुन बनो तुम मेरे मग में।

उस मधुघट से होठ लगाने
दो मुझको भी, हे कवि दानी,
जिसमें डूब निकाली तुमने
पद्मावत की रतन-कहानी,
जिसकी प्रतिध्वनियाँ आती हैं
हर नर, नारी के चित, उर से,
जिससे उजियाला होता आया है हर प्रेमी के जग में।
जायस के, हे, एक-नयन कवि, सगुन बनो तुम मेरे मग में।

१३

बारंबार प्रणाम तुम्हें है, राम-चरित के अमित पुजारी।

उचित यही था, प्रथम तुम्हारे
चरणों में मैं शीश नवाता,
पर न दिया वह अवसर तुमने,
हे भारति के भाग्य-विधाता,

तुम पहले से आनेवाले
कवियों के प्रति नतमस्तक थे,

आर्य, तुम्हारे आदर का मैं बन पाऊँ कैसे अधिकारी ?
बारंबार प्रणाम तुम्हें है, राम-चरित के अमित पुजारी।

तुमने अपने राम-सिया में,
रसिया, सब जग देख लिया था,
कितने नयन विशाल तुम्हारे,
कितना गहिर-गँभीर हिया था;

जीवन, काल, कर्म, गति-पथ का
अंत कहाँ है ? कौन बताए ?

नहीं अभी तक पहुँचा कोई, जहाँ नहीं थी पहुँच तुम्हारी।
बारंबार प्रणाम तुम्हें है, राम-चरित के अमित पुजारी।

भला हुआ जो लगन तुम्हारी
दूर लक्ष्य की ओर लगी थी,

पाँव पड़ा करते थे भू पर,
आँख गगन के प्रेम पगी थी,
मग में तुमने ठुकराकर जो
छोड़ दिया उसको अपनाकर,
बहुत समय पर्यंत करेंगे अर्जन कीर्ति क़लम-कर-धारी।
बारंबार प्रणाम तुम्हें है, राम-चरित के अमित पुजारी।

दो मुझको वरदान, तुम्हारे
काम किसी दिन मैं था आगा,
राम-भगति बहुविधि वर्णन कर
जब तुमने संतोष न पाया,
तुमने मेरी ओर निहारा
और हृदय की ताली पाई,
याद तुम्हें आया, मैं ही वह कामी जिसको नारि पियारी ?
बारंबार प्रणाम तुम्हें है, राम-चरित के अमित पुजारी।

१४

सूर, पथ मुझको दिखाओ, पद-लगा हूँ मैं तुम्हारा।
मैं कहाँ पहुँच कहाँ से
अनुसरण कर ध्वनि तुम्हारी,
किंतु सहसा वह धरणि को
छोड़ अंबर को सिधारी,
औ' प्रतिध्वनि को पकड़कर
ढूँढता कबसे तुम्हें मैं,
सूर पथ मुझको दिखाओ, पद-लगा हूँ मैं तुम्हारा।
मौन बैठा आज आकर
एक सागर के किनारे,
हैं मुखर जिसकी तरंगें
बोल दुहरातीं तुम्हारे,
बूँद आँसू की नयन में
डबडबाती-डोलती है,
खो गईं नदियाँ जहाँ, तू खोजने आई सहारा।
सूर, पथ मुझको दिखाओ, पद-लगा हूँ मैं तुम्हारा।
पर नहीं; इन लाख लहरों
में नहीं है एक ऐसी,
जीभ पर जिसके नहीं है
बात बिल्कुल ठीक वैसी,

तुम बता जैसी गए थे;
भावना मेरी छुओ तो,
नित नई स्वर-लिपि करेगी व्यक्त मेरी अश्रु-धारा।
सूर, पथ मुझको दिखाओ, पद-लगा हूँ मैं तुम्हारा।

था सहज-विश्वास का युग
जबकि तुमने गीत गाया,
और मैं संदेह, शंका,
संशयों का हूँ सताया
मैं तुम्हारे श्याम से तुमको
अधिक सच मानता हूँ,
जब मुझे भगवान कहना था, तुम्हें मैंने पुकारा।
सूर, पथ मुझको दिखाओ, पद-लगा हूँ मैं तुम्हारा।

१५

मीरा, मेरे मन का मंदिर करता है तेरी अगवानी।

तेरे मन-मंदिर के अंदर
गिरिधरलाल बसा करते हैं,
और अवश्य मुझे रजकण से
लिपटा देख हँसा करते हैं;
वे न कभी मिट्टी से खेले,
मैं उनको किस भाँति बुलाऊँ;
मीरा, मेरे मन का मंदिर करता है तेरी अगवानी।

तेरे पद-घुँघरू का रव-रस
था बचपन में कान समाया,
औ' उसने चित्तौड़ क़िले के
भीतर मुझको ला बिठलाया,
उस वेदी के आगे जिसपर
तू तन्मय नाचा करती थी;
और वहीं पर गाया मैंने, 'वह पगध्वनि मेरी पहचानी।'
मीरा, मेरे मन का मंदिर करता है तेरी अगवानी।

तेरे अंतर का स्वर था जो
भारत के घर-घर में गूँजा,

शब्दों ने दीवाला बोला
किंतु हृदय का भाव न पूजा,
फिर भी अपने अटपट बयनों
से तू कितना कुछ कह जाती !
तू पहुँची उस ठौर जहाँ पर पहुँच नहीं पाती है वाणी।
मीरा, मेरे मन का मंदिर करता है तेरी अगवानी।

सूली ऊपर सेज सजाकर
तू अपने पी के सँग सोई,
मिलन-घड़ी में गाया तूने
जो फिर क्या गाएगा कोई,
गाना दूर अभी तो तुझसे
मुझे सीखना है तुतलाना,
शूल,फूल,कलि,ओस,दूब,दल तक सीमित मेरी नादानी।
मीरा, मेरे मन का मंदिर करता है तेरी अगवानी।

१६

कठिन काव्य के प्रेत, न डालो
मुझपर अपनी छाया;
सरल स्वभाव, सरल जीवन को
मैंने मंत्र बनाया।

मेरे कुछ अगुओं को तुमने
आ अनजाने घेरा,
जिससे उनका काव्य-भवन बन
गया भूत का डेरा।

क्लिष्ट कथन है गाँठ हृदय की
शब्दों के बाने में;
जिसने गाँठ नहीं पड़ने दी
क्यों अटके गाने में,

क्यों भटके कोशों की गलियों
में सूनी, अँधियारी।
कविता, जगती के प्रांगण में
जीवन की किलकारी।

भूत उसी घर में बसता है
जिसके बंद किवाड़े,
बंद खिड़कियाँ, नहीं झाँकते
जिसमें रवि-शशि-तारे।

मुक्त गगन में मुक्त पवन को
आठों पहर निमंत्रण,
आओ, जाओ, अपना घर है,
बादल, विहग, प्रभंजन !

भर दो मेरे अंतराल को
चहक, चमक, गानों से,
इंद्र-धनुष के सतरंगों से
बिजली के बाणों से।

कठिन काव्य के प्रेत, कभी क्या
तुमने मन-पट खोला ?
क़लम तुम्हारा बहुत चला, पर
कभी हृदय भी बोला ?

एक बार, जब चंद्रमुखी ने
'बाबा' तुम्हें पुकारा,
एक बार तब खुली तनिक-सी
तमक तुम्हारी कारा।

तब जीवन की ह्विस विवशता
में अपनी मुसकाई,
पत्थर ने जैसे छाती में
चिन्गारी दिखलाई।

एक उसी क्षण की ख़ातिर मैं
याद तुम्हें करता हूँ,
वर्ना तुमसे और तुम्हारे
भक्तों से डरता हूँ।

कठिन काव्य के प्रेत, न डालो
मुझपर अपनी छाया;
सरल स्वभाव, सरल जीवन को
मैंने मंत्र बनाया।

१७

रहिमन, एक समाधि तुम्हारी मेरे मन के अंदर भी है।
सुना निज़ामुद्दीन जहाँ है
वहीं कहीं मक़बरा तुम्हारा,
और गुज़रता कई खँडहरों
से मैं उसके पास पधारा,
उखड़े गुंबद, गिरती मेहराबों
के नीचे तुम सोए थे,
और कहा जाता है हिंदी भाषा जाग्रत-सजग अभी है।
रहिमन, एक समाधि तुम्हारी, मेरे मन के अंदर भी है।

जैसे ही अपनी श्रद्धा के
मैंने तुमको फूल समर्पे,
मुझको लगा कि तुम उठ बैठे,
सहसा मेरे तन-मन डरपे,
दीवारों से निकल तुम्हारे
बरवै, दोहों की ध्वनि आई,
पूछूँगा, क्या ऐसा अनुभव हुआ किसीको और कभी है।
रहिमन, एक समाधि तुम्हारी मेरे मन के अंदर भी है।

जर्जर दीवारों के मुख से
बोल रही थी अजर जवानी,

मरी हुई मिट्टी करती थी
मुखरित अमर क्षणों की वाणी,
ज़िंदा दिल, ज़िंदा बोलों को
समय नहीं छूने पाता है,
नहीं, काल की छाया के ही नीचे यह संसार सभी है,
रहिमन, एक समाधि तुम्हारी मेरे मन के अंदर भी है।

भ्रम था, हिली न क़ब्र, न पत्थर-
ईंटों से प्रतिध्वनियाँ आईं,
केवल वह बोला--की जिसने
थी मेरे उर में पहुनाई,
ज़िंदा वह है जो औरों के
दिल में अपनी जगह बनाए,
रहे न अपना, कहे न अपनी, संभव यह संयोग तभी है।
रहिमन, एक समाधि तुम्हारी मेरे मन के अंदर भी है।

१८

नर कवि भारतेन्दु गर होते आज, उन्हें भर कंठ लगाता।

उनकी आँख समझती मुझको
अपने को मुझको समझाती,
मेरी छाती की धड़कन का
उत्तर देती उनकी छाती,
नाम, काम, गुण, पद, वैभव के
भेद न कोई बीच ठहरते,
माना करते थे वे सबसे बढ़कर स्वर-शब्दों का नाता।
नर कवि भारतेन्दु गर होते आज, उन्हें भर कंठ लगाता।

रंग, राग, रति, रूप, गंध, रस
में वे अंग-अंग डूबे थे,
रुपया-आना-पाई-चिन्तित-
चालित जगती से ऊबे थे,
रोम-रोम उनका प्यासा था
किंतु उदार-मना थे इतने,
सागर-सा आदर देते थे जो उन तक था गागर लाता।
नर कवि भारतेन्दु गर होते आज, उन्हें भर कंठ लगाता।

तब मेरी साँसों के अंदर
आँधी का पौरुष बल होता,

तब मेरे आँसू की छल-छल
में लहरों का कल-कल होता,
दुनिया लेकर सूप बनाती
बाँध रीति के, नीति-नियम के,
सिंधु-रुखी सावन सरिता-सा मैं अबाध बहता उफनाता।
नर कवि भारतेन्दु गर होते आज, उन्हें भर कंठ लगाता।

तब गीली-सीली लकड़ी-सी
जल-जल कटती उम्र न मेरी,
जीवन की सारी समिधा की
बाँकी एक लगाकर ढेरी,
आग उन्हींकी भाँति लगा देता,
जब तक जग देखे-देखे,
एक लपट में भू से उठकर अंबर छूकर मैं बुझ जाता।
नर कवि भारतेन्दु गर होते आज, उन्हें भर कंठ लगाता।

१६

मैथिली शरण थे हिंदी के हित आए।
पड़ी हुई थी एक बालिका
अनचाही, असहायी,
अल्प वयस की, देख विवश ही
कवि-छाती भर आई,
मिथिलापति मैथिली, कण्व मुनि
शकुंतला को जैसे,
वैसे ही उसको गोद उठा घर लाए।
मैथिली शरण थे हिंदी के हित आए।

तुतलानेवाली को क्रमशः
गाना गीत सिखाया,
औ' घुटनों चलनेवाली को
नर्तन-कुशल बनाया,
आजीवन साधना उन्हींकी
आज खड़ी बोली जो,
युग,देश,प्रकृति,संस्कृति के साज सजाए।
मैथिली शरण थे हिंदी के हित आए।

किसे छोड़ते हैं जीवन में
कठिन समय के फेरे,

दुर्भाषा का शाप इसे भी
बहुत दिनों था घेरे,
कटा उन्हीं के तप से, अब यह
भारत-भाषाओं में
पटरानी का अधिकार पूर्ण पद पाए।
मैथिली शरण थे हिंदी के हित आए।

क्या न मिला उनसे, पाने की
जो रक्खे यह आशा,
जग विख्यात, नहीं होती है
मृषा देव-ऋषि भाषा,
अपना ब्रह्म जगा बस कह दें,
मेरी यह मुँहबोली
मुँहबोली सब जन-भारत की बन जाए।
मैथिली शरण थे हिंदी के हित आए।

२०

सिंहिनी शिशु को देकर जन्म
चल बसी थी जंगल में एक,
उधर से गुज़री कोई भेड़,
हुआ उसमें ममता-उद्रेक।

पिलाकर अपने तन का दूध
लिया उसने वह लघु शिशु पाल,
हुआ बढ़कर वह भेड़-स्वभाव,
लगा चलने भेड़ों की चाल।

किसी दिन भेड़-झुंड के साथ
घूमता था जब सिंह-किशोर,
अचानक आकर गरजा शेर
भगीं भेड़ें सब इस-उस ओर।

और उनके ही साथ, समान
भगा जी लेकर सिंह-कुमार,
अंत में एक नदी के तीर
थमा बन-खंड कई कर पार।

हाँफता, डरता कंपित-गात
बुझाने के हित अपनी प्यास

झुकाया ज्योंही उसने शीश
हुआ उसको सहसा आभास....

अरे ! मैं भी तो सिंह-सपूत,
मुझे यों डरना था बेकार;
और की उसने एक दहाड़
कि जिससे काँप उठा कांतार।

हुई थी मेरे मन की ठीक
वही हालत, जिस दिन, जिस याम,
निहारा था मैंने निज रूप
तुम्हारे प्याले में, ख़ैयाम !

तुम्हारी मदिरा से जिस रोज़
हुए थे सिंचित मेरे प्राण,
उसी दिन मेरे मुख की बात
हुई थी अंतरतम की तान !

२१

सौगंध ख़ुदी की, मैं आहिस्ता बोलूँगा,
कहने दो कुछ टुक बैठ मीर के पैताने।

जिन रातों को सारा आलम सोया करता,
उनमें संयमधर, शायर जागा करते हैं,
जिन दे-ले की रातों में जगती जगती है,
उनसे वे आँख चुराकर भागा करते हैं;
जिनमें जगते दिखते थे, उनमें सोते थे,
जिनमें वे रोते-सोते, उनमें जगते हैं;
सौगंध ख़ुदी की, मैं आहिस्ता बोलूँगा,
कहने दो कुछ टुक बैठ मीर के पैताने।

सच पूछो तो उनके हिस्से में कोई भी
थी घड़ी नहीं ऐसी कि मीर आराम करें,
शायरी चाहती थी कि शाम को सुबह करें,
ज़िंदगी चाहती थी कि सुबह को शाम करें,
पैरों में चक्कर था, दिमाग़ में चक्कर था,
बेकस, बेबस, बेघर फिरते ही उम्र कटी,
यह एक उम्र का सफ़र थकाता है कितना !
जो लेटा, उठता नहीं कि फिर चलना जाने।

सौगंध ख़ुदी की, मैं आहिस्ता बोलूँगा,
कहने दो कुछ टुक बैठ मीर के पैताने।

है याद सफ़र जो किया उन्होंने दिल्ली से
लखनऊ तलक, हमराही बोला, बात करें,
लेकिन जब उसने बात शुरू की तब बोले,
'मत और बोलकर कानों को बर्बाद करें,
है दिया किराया साथ सफ़र कर सकते हैं,
लेकिन ज़बान मेरी क्यों आप ख़राब करें।'
वे काश क़ब्र से डाँट पिला सकते उनको
जो शब्द उगलते बे परखे, तोले, छाने।
सौगंध ख़ुदी की, मैं आहिस्ता बोलूँगा,
कहने दो कुछ टुक बैठ मीर के पैताने।

कब मीर क़ब्र में लेट नींद ले सकते हैं
जब शोर-सुखन उनका है चारों ओर मचा,
जिसपर शायर सुख से सोए, सपना देखे,
विधना ने ऐसा बिस्तर अब तक नहीं रचा;
वह कभी नहीं मदहोशों में, मयख्वारों में,
वह देश-जाति-भाषा के पहरेदारों में,
कोई न खड़ी बोली लिखना आरंभ करे
अंदाज़ मीर का बे जाने, बे पहचाने।
सौगंध ख़ुदी की, मैं आहिस्ता बोलूँगा,
कहने दो कुछ टुक बैठ मीर के पैताने।

२२

ग़ालिब, वह ग़लबा ला दो मेरे जीवन में
जिससे मेरा अंदाज़ेबयाँ कुछ और बने !

क्यों शेर तुम्हारे मुझको ऐसे लगते हैं
जैसे घोले हों जीवन की सच्चाई में,
जैसे बोले हों वे प्राणों की भाषा में
जो नहीं पड़ा करती है हाथापाई में
सिद्धांत, विचार, विवादों, वादों, नारों की,
जो पेशेवर अख़बारनवीस कराते हैं ?
ग़ालिब, वह ग़लबा ला दो मेरे जीवन में
जिससे मेरा अंदाज़ेबयाँ कुछ और बने !

मैंने तुमको है पढ़ा नहीं मुर्दा जिल्दों
में बैठ बल्ब के नीचे काली रातों में,
मैंने तुमको है सुना ज़िंदगी के मुँह से
मन के सौ आघातों में, प्रत्याघातों में,
शब्दों से मैंने राज़ तुम्हारा कब पूछा ?
पूछा है मैंने दिल्ली से, मेहरौली से,
जिसकी सड़कों के ऊपर तुम भटके-भूले,
जिसकी गलियों के तुमने फिर-फिर मोड़ गिने।

गालिब, वह ग़लबा ला दो मेरे जीवन में
जिससे मेरा अंदाज़ेबयाँ कुछ और बने !

शायर के दिल में इंक़लाब जब आता है,
उसकी चर्चा कब होती छापेख़ानों में,
पर भावों का सैलाब उठा करता है जब
महदूद नहीं वह रहता है दीवानों में,
उन सब कविताओं को मैं मरी समझता हूँ
एरियल कान का जिनको नहीं पकड़ता है,
रेडियो ज़बाँ का जिन्हें नहीं फैलाता है;
उनका हर अक्षर कृमि-कीटों का कौर बने
ग़ालिब, वह ग़लबा ला दो मेरे जीवन में
जिससे मेरा अंदाज़ेबयाँ कुछ और बने !

दिल्ली आया हूँ, उठता आज सवाल नहीं,
हम दिल्ली में तो रहे मगर खाएँगे क्या,
नेहरू की दिल्ली का यह सबसे बड़ा प्रश्न,
हम दिल्ली में तो रहें मगर गाएँगे क्या;
जो क़ौम नहीं गाती है वह मिट जाती है;
लेकिन यह कैसे संभव हो खाएँ नेहरू
की दिल्ली में, गाएँ ग़ालिब की दिल्ली में;
कैसे दुनिया का यह जादूई दौर बने।
ग़ालिब, वह ग़लबा ला दो मेरे जीवन में
जिससे मेरा अंदाज़ेबयाँ कुछ और बने !

२३

मुल्क में, इक़बाल, जो तुम भर गए थे, वह सदा फिर-फिर निकलती।
जो हृदय को चीरकर आवाज़ उठती,
वह हृदय को चीरकर अंदर समाती,
और जो अंदर समाती, साँस बनती,
प्राण बनती, रक्त बनती, कसमसाती;
यह बदलता काल कविता का अमर स्वर
गाल में रखकर कुचल सकता नहीं है।
मुल्क में, इक़बाल, जो तुम भर गए थे, वह सदा फिर-फिर निकलती।

सरस पथ पर, शुष्क पथ पर, शून्य पथ पर
तुम चले, ऐसा सफ़र था ज़िन्दगी का,
और जिस पथ पर चलें, गाते चलेंगे
सैनिकों का, शायरों का है तरीक़ा;
शुष्क पथ के गीत गढ़ते रूढ़ियों को,
शून्य पथ के, गूढ़, बूढ़ों के लिए हैं,
पर सरस ध्वनियाँ तुम्हारी हैं जवानों के कलेजों में मचलती।
मुल्क में, इक़बाल, जो तुम भर गए थे, वह सदा फिर-फिर निकलती।

जिस समय मेरी जवानी ने दिलों की
बात सुनने की ग़रज़ से कान खोले,
प्रौढ़ स्वर में उस समय टैगोर बोले
पूर्व से, पच्छिम तरफ़ इक़बाल बोले,
और मुझको यह लगा जैसे प्रकृति औ'
पुरुष मिलकर प्रेम-कोरस छेड़ बैठे;
और जो मैं गुनगुनाया, बस उन्हींकी गूँज की कुछ-कुछ नक़ल थी।
मुल्क में, इक़बाल, जो तुम भर गए थे, वह सदा फिर-फिर निकलती।

हाँ, सुना मैंने कि वह हिंदोस्ताँ का
गान पाकिस्तान में गाना मना है,
किंतु वह भी था तुम्हारा हिंद जो
दौरेज़माँ से टूट पाकिस्ताँ बना है;
जो कलामों से तुम्हारे खेल करना
चाहते हैं, बात इतनी-सी समझ लें,—
देश की सीमा बदलती है; नहीं, पर, पंक्ति शायर की बदलती।
मुल्क में, इक़बाल, जो तुम भर गए थे, वह सदा फिर-फिर निकलती।

२४

भारती की सुप्त वीणा को तुम्हींने फिर जगाया और गाया।

जातियाँ जातीं पतन की ओर को जब
कंठ पहले वे गँवातीं,
और जब उत्थान को अभियान करतीं
तब प्रथम आवाज़ आती,
पूर्व से पच्छिम तलक, गुरुदेव, गूँजा
नाद जो, वह था तुम्हारा,
भारती की सुप्त वीणा को तुम्हींने फिर जगाया और गाया।

एक आश्रम छोड़, आए चीरते तुम
काल का घनतम अरण्यक,
और तुमने तोड़ फेंका यामिनी का
जाल जादू का यकायक,
जोड़ दीं बीते युगों की शृंखलाएँ
साथ,. जो टूटी पड़ी थीं,
दिव्य भारत भूमि के अमरत्व का स्वर विश्व को तुमने सुनाया।
भारती की सुप्त वीणा को तुम्हींने फिर जगाया और गाया।

है मुझे दावा, समझता हूँ गगन की
तारिका जो बात कहती,
जो अधर में खग चहकते, और गाती
जो नदी की धार बहती,
शब्द-अर्थों की परिधि को पारकर जो
घूमती है ध्वनि तुम्हारी,
प्र'ध्वनित मैंने उसे कितने क्षणों में है हृदय के बीच पाया।
भारती की सुप्त वीणा को तुम्हींने फिर जगाया और गाया।

बीज मैं उनको कहूँगा जो उगाएँ
पेड़ फिर से बीजवाले
दीप मैं उनको कहूँगा जो कि अपनी
आग से फिर दीप बालें,
वह लहर है जो लहर को जन्म देती,
और आगे को बढ़ाती,
है मुझे विश्वास, तुमने ही मुझे है आज ऊपर को उठाया।
भारती की सुप्त वीणा को तुम्हींने फिर जगाया और गाया।

२५*

मैं नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।
याद करूँगा सबसे पहले
मैं तो यह वरदान तुम्हारा--
तुमने 'गीतांजलि' के भावों
को अंग्रेज़ी में अवतारा।
चतुर कीमियागर, चाँदी की
प्रतिमा जो गुरुदेव-रची थी,
उसको लेकर तुमने उसपर फेर दिया सोने का पानी।
मैं नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।

कंठ तुम्हारा फूटा था जब
गिरा हो रही थी जर्जर-स्वर,
कला कला के हेतु हुई थी
जन-मन संघर्षों से बचकर,
भूषा-वेश विचित्र किए कवि
अपनी छाया पिछुआते थे।

---

* इस गीत पर एक टिप्पणी पुस्तक के अंत में दी गई है।

अपने मूक देश को मुखरित करने की तुमने, पर, ठानी।
मैं नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।

आज़ादी के जद्दोजहद में
जूझ रहे थे जब दीवाने,
लगे हुए थे तुम लिखने में
नाटक, गल्प, निबंध, तराने,
गाने जिनके शब्द-शब्द से
रूह बोलती थी आयर की,
आयर का इतिहास, पुरा-विश्वास-कल्पना-कर्म कहानी।
मैं नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।

स्वप्न ढकी दुनिया से लेकर
नंगी दुनिया की सच्चाई
तक जो भी तुमने अपनाई
निर्भय, निर्लज्जा अपनाई,
और सुनाए मीठे-कड़ुए
अनुभव सब जीती भाषा में
जिनको जग, जीवन, युग से डर, मरी हुई है उनकी वाणी।
मैं नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।

वाणी अंत नहीं अपने में,
हे कवि कर्मठ, उसके द्वारा

तुमने आयर के यौवन का
एक नया ही पक्ष उभारा,
जो कि सृष्टि की सुन्दरता पर
तितली-सा फिर-फिर मँडलाए
किन्तु सत्य की ओर बाज़ की भाँति बढ़े बे आनाकानी।
मैं नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।

कवि का पंथ अनंत सर्प-सा
जो मुख में है पूँछ दबाए,
और मनीषी तीर सरीखी
सीधी अपनी लीक बनाए,
उनकी दृष्टि-दिशा में कितना
अंतर है, पर तुमने चाहा,
जो दोनों को साथ समोए, बनना सिद्ध-सधा वह प्राणी।
मैं नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।

काव्य सिन्धु में उतर तुम्हारे
मैंने तह को ख़ूब थहाया,
मोती जो दो-चार निकाले,
यह माँझी का फ़र्ज़ बजाया,
इनको जग परखे, मेरा ता
सुख सबसे बढ़कर था, उसकी
चिर-चंचल, वर्तुल लहरों से क्रीड़ा की, विलसा, मनमानी।
मैं नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।

मुझे शुरू से ही लगता था
आकर्षक व्यक्तित्व तुम्हारा,
अलग सबों से प्रकट प्रवाही
थी तुमने अपनी ध्वनि-धारा,
मैं गाऊँ तो मेरा कंठ–
स्वर न दबे औरों के स्वर से,
जीऊँ तो मेरे जीवन की औरों से हो अलग रवानी।
मैं नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।

२६

ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।
दो सहस्र वर्षों के पहले
महाकाव्य जो पाषाणों में
तुमने लिखा, उसे पढ़ पाना
था मेरे उन अरमानों में
जिनके पूरा हुए बिना मैं
अपना जन्म अधूरा कहता,
ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।

काल, प्रकृति, दानव, मानव के
दुसह कराघातों को सहते,
ऊँचा अपना भाल उठाए
अपनी पुण्य कथा तुम कहते,
अनहद नाद तुम्हारा सुनकर—
सुना, अनसुना भी बहुतों को—
कोई कह सकता है उसने बात सुनी गंभीर गगन की।
ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।

कहाँ गए औज़ार कि जिनसे
तुमने ये रेखाएँ आँकीं,
कहाँ यंत्र-कल रची जिन्होंने
कुशल तुम्हारी छेनी-टाँकी,
कहाँ गए वे साँचे जिनमें
ये नैसर्गिक रूप ढले थे,
ये जिज्ञासाएँ सदियों तक बनी रहेंगी विषय मनन की।
ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।

कला नहीं बसती पत्थर में,
स्वर में, रंगों की श्रेणी में,
बाजंतर में, कंठ, लेखनी
में, तूली, कीली, छेनी में;
कोई मंदर जब जन-अंतर
मंथन करता, स्वप्न उघरते,
कला उभरती, कविता उठती,
कीर्ति निखरती, विभव बिखरते;
मैंने भी देखी है ऐसी एक बड़ी हलचल जीवन की।
ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।

२७

ओ अजंता की गुफाओं के अनामी,
यश-अकामी चित्रकारो !

चार मुर्दा शब्द की माला बनाकर
मैं अमरता को पिन्हाना चाहता हूँ,
और यह हासास्पद खिलवाड़ करने
के लिए मैं नाम पाना चाहता हूँ;
तुम अमरता की लकीरें खींच उनके
बीच अन्तर्धान कैसे हो गए हो !
ओ अजंता की गुफाओं के अनामी,
यश-अकामी चित्रकारो !

मैं तुम्हारी जाति का हूँ, देश का हूँ,
पर तुम्हारे काल औ', मेरे समय में
फ़ासला जो पड़ गया, किस भाँति उसने
कर दिया है फ़र्क़ मस्तिष्कोहृदय में !
क्या कला है ? क्या कलाकृति ? क्या कलाधर ?
औ' कला का किसलिए अवतार होता ?

आज इन पर वाद और विवाद बहुधा,
तुम न, मर्मी, मौन धारो।
ओ अजंता की गुफाओं के अनामी,
यश-अकामी चित्रकारो !

काम जिनका बोलता है वे कभी भी,
वे किसीसे भी नहीं कुछ बोलते हैं,
और हम जो बोलने का काम करते
शोर करके पोल अपनी खोलते हैं;
जीभ अपनी, आँख अपनी, साँस अपनी
और अपना प्राण-जीवन जो तुम्हें दे-
कर गए, उनकी बताओ मान्यताएँ,
चारु चित्रों की क़तारो !
ओ अजंता की गुफाओं के अनामी,
यश-अकामी चित्रकारो !

इस जगह सिद्धार्थ घर को त्याग अपने
रत्न-आभूषण बदन से दूर करते,
इस जगह पर कामिनी के कर कलामय
उँगलियों से उस कमी को पूर्ण करते,
जो प्रकृति ने छोड़ दी है नारि अंगों
पर, प्रसाधन और शत मुक्ताभरण से;
कौन सामंजस्य रखता बीच, लौकिक
और नैसर्गिक नज़ारो !

ओ अजंता की गुफाओं के अनामी,
यश-अकामी चित्रकारो !

इस जगह अमिताभ जग-पीड़ित जनों पर
शांतिकर शीतल सुधा धारा बहाते,
इस जगह यौवन-सुरा में मत्त नायक
रमणियों को प्रेम की मदिरा पिलाते,
गोद में बैठालकर, भुजपाश में भर।
राग और विराग जैसे मिल रहे हैं
इस गुहा में, उस तरह मुझमें मिलाकर
पंक्तियाँ मेरी सँवारो।
ओ अजंता की गुफाओं के अनामी,
यश-अकामी चित्रकारो !

स्वप्न जीवन का, कला है; जोकि जीवन
में, निखरकर वह कला से झाँकता है;
यह महज़ दर्पण नहीं है, दीप भी है
जो अमरता के शिखर को आँकता है,
औ' कलाधर को सतत संकेत करता,
बंधनों में जो न बँधता वह बढ़ाता
पाँव उसकी ओर। ओ, गिरि-शृंग के
आरोहियो, मुझको पुकारो।
ओ अजंता की गुफाओं के अनामी,
यश-अकामी चित्रकारो !

२८

खजुराहो के निडर कलाधर, अमर शिला में गान तुम्हारा।
पर्वत पर पद रखने वाला
मैं अपने क़द का अभिमानी,
मगर तुम्हारी कृति के आगे
मैं ठिगना, बौना, बे-बानी,
बुत बनकर निस्तेज खड़ा हूँ।
गुंजारित हर एक दिशा से,
खजुराहो के निडर कलाधर, अमर शिला में गान तुम्हारा।

धधक रही थी कौन तुम्हारी
चौड़ी छाती में वह ज्वाला,
जिससे ठोस-कड़े पत्थर को
मोम गला तुमने कर डाला,
और दिए आकार, किया शृंगार,
नीति जिनपर चुप साधे,
किंतु बोलता खुलकर जिनसे शक्ति-सुरुचिमय प्राण तुम्हारा।
खजुराहो के निडर कलाधर, अमर शिला में गान तुम्हारा।

एक लपट उस ज्वाला की जो
मेरे अंतर में उठ पाती,
तो मेरी भी दग्ध गिरा कुछ
अंगारों के गीत सुनाती,
जिनसे ठंडे हो बैठे दिल
गर्माते, गलते, अपने को
कब कर पाऊँगा अधिकारी, पाने का, वरदान तुम्हारा।
खजुराहो के निडर कलाधर, अमर शिला में गान तुम्हारा।

मैं जीवित हूँ, मेरे अंदर
जीवन की उद्दाम पिपासा,
जड़ मुर्दों के हेतु नहीं है
मेरे मन में मोह ज़रा-सा,
पर उस युग में होता जिसमें
ली तुमने छेनी-टाँकी तो
एक माँगता वर विधि से, कर दे मुझको पाषाण तुम्हारा।
खजुराहो के निडर कलाधर, अमर शिला में नाम तुम्हारा।

२६

भुवनेश्वर की प्रणय-पत्रिका लिखनेवाली, ओ पाषाणी !
माना मैंने पलक उठाकर
देख नहीं मुझको पाओगी,
किंतु न था विश्वास कि मेरी
बोली को भी बिसराओगी;
भोली, अपने निर्माता को
ऐसे भूल नहीं जाते हैं;
क्या कहलाओगी फिर मुझसे पूर्व जन्म की पूर्ण कहानी ?
भुवनेश्वर की प्रणय-पत्रिका लिखनेवाली, ओ पाषाणी !

जाना था तुम फिर न मिलोगी
पर आशा थी लिखकर पाती,
कभी बताओगी, पूछोगी,
क्या कहती, क्या सहती छाती;
एक तुम्हारा रूप रात-दिन
आँखों में नाचा करता था—
बैठ कहीं तुम नीरव रेखा के अंदर भरती हो वाणी।
भुवनेश्वर की प्रणय-पत्रिका लिखनेवाली, ओ पाषाणी !

पर न कभी जब पाती आई
तब वह कल्पित रूप तुम्हारा
मैंने मन को दृढ़ करने को
एक शिला को काट निखारा–
हाथ रुका है, क़लम थमा है,
रमे हुए हैं दृग चिंतन में;
कौन हृदय का भाव कि जिनके जोग शब्द की खोज, सयानी?
भुवनेश्वर की प्रणय-पत्रिका लिखनेवाली, ओ पाषाणी !

क्या न मिलेगा, और अधूरी
पाती पूरी हो न सकेगी ?
जन्म-जन्म क्या उसको पाने
को मेरी आशा तड़पेगी ?
काश कलाधर तुम भी होतीं
और प्रतीक्षाकुलता मेरी
एक अटल पत्थर के अंदर मूर्तिमती करतीं, कल्याणी !
भुवनेश्वर की प्रणय-पत्रिका लिखनेवाली, ओ पाषाणी !

३०

ललित काँगड़ा कलम कलित के रसिक-सुजान चलानेवालो !
देख तुम्हारी रेखाओं में
जो चिकनाहट, चटक, सफ़ाई,
घेर, घुमाव, कसाव, ढलावट,
लोच, लटक, बल, मोड़, निकाई,
सोच नहीं पाता हूँ कितनी
सहलाई होगी जीवन की
काया तुमने, भर हाथों में प्यार, कला के नाम निहालो !
ललित काँगड़ा कलम कलित के रसिक-सुजान चलानेवालो !

अपनी मर्मस्पर्शी तूली
से तुमने जो रूप निखारे,
वे मेरे नयनों में झूमे,
घूमे कितने साँझ-सकारे,
उनकी करता खोज फिरा हूँ
कितनी रातों, कितनी राहों
पर ऊँची, नीची, पथरीली, तुम बतलाओ, पग के छालो !
ललित काँगड़ा कलम कलित के रसिक-सुजान चलानेवालो !

फलक-रंग ये पलक समाते
तो भी भाव-तरंग उठाते,
पर ये पहुँच निकट श्रवणों के
यौवन का आख्यान सुनाते;
मेरी पंक्ति-पंक्ति में गुंफित
हो ऐसा ही एक फ़साना,
मैं तुमसे सीखूँ, समझूँ कुछ, मुझको अपने बीच बिठा लो।
ललित काँगड़ा कलम कलित के रसिक-सुजान चलानेवालो !

जीवन क्या है ? और कला क्या ?
क्या युग का मन मंथन करता ?—
ऐसा वर्त कहाँ जो तीनों
को अपनी बाहों में भरता;
मैं इसको अंकित करने में
असफल ही होता आया हूँ,
मेरा अथिर, अनिश्चित, कंपित हाथ पकड़कर आज सँभालो।
ललित काँगड़ा कलम कलित के रसिक-सुजान चलानेवालो !

३१

आज काँगड़ा की घाटी का राग बसे छाती में।
अनजानी सदियों से जिसके
ज़िंदादिल नर-नारी
ज्वाला देवी के आराधक
साधक, भक्त, पुजारी—
जो जिसके मन डोला करता
मुख से बोला करता—
आज काँगड़ा की घाटी का राग बसे छाती में।

औ' बहता है व्यास जहाँ ले
शत-शत निर्झर-नाले
करते बात, उसासें भरते,
गाते गीत निराले,
गर्जन करते पाषाणों पर
जो उनका पथ रोके,
लड़ते तट, मिलते पनघट से निज गति मदमाती में।
आज काँगड़ा की घाटी का राग बसे छाती में।

जिनकी यति में आग और है
जिनकी गति में पानी,
वही जानते ललक ज़िंदगी
क्या है, बलक, जवानी।
उनके बीच बसा मैं कुछ दिन
उनकी रति-मति जानी,
उनका स्नेह कहीं संचित है मेरी मन-बाती में।
आज काँगड़ा की घाटी का राग बसे छाती में।

जो गाती हो, उनकी होगी
कैसी आश-निराशा,
कैसी प्यार, मरण, जीवन की
क्रान्तिकरी परिभाषा—
'चद्दर फटे ताँ लाई लैणी टल्ली,
अंबर फटे कियाँ सीना,
खसम मरे हो जाँदा गुज़ारा,
यार मरे कियाँ जीना!'
भाग कभी क्या होगा मेरा भी उनकी थाती में।
आज काँगड़ा की घाटी का राग बसे छाती में।

३२

जब व्यास उसासें भरता था,
मैं कैसे जाकर सो जाता !

पाषाणों की दीवार उधर,
पाषाणों की दीवार इधर,
अंबर की छाजन से लटके
तारों के दीपक तितर-बितर,
पत्थर के निर्मम बिस्तर पर
करवट पर करवट बदल-बदल
जब व्यास उसासें भरता था,
मैं कैसे जाकर सो जाता !

कुल्लू की घाटी में जीवन
दिन ढलते ही ढल जाता है,
इक्का-दुक्का आता-जाता
डरता है और डराता है;
पर्वत की रूह अँधेरे में
जैसे विचरण को निकली हो;

कोई गाता तो स्वर उसका
जल के स्वर में लय हो जाता।
जब व्यास उसासें भरता था,
मैं कैसे जाकर सो जाता !

मैंने अपने को समझाया,
यह सिर्फ़ नदी का पानी है;
यह खामखयाली है इसके
पीछे कुछ प्रेम कहानी है;
ऊपर से नीचे बहता है,
क्या सहता है, क्या कहता है;
कवि देख नज़ारे ऐसे ही
अपने ख्वाबों में खो जाता।
जब व्यास उसासें भरता था,
मैं कैसे जाकर सो जाता !

मंगल जब चोटी पर पहुँचा
तब देखा 'जीनी' आती है;
जो बात यहाँ दी जाती है,
निश्चय पूरी की जाती है;
अब मौन मुझे धारा लगती,
अब मौन किनारा लगता है;
ऊपर तारे, मेरे सिर के
नीचे 'जीनी' की छाती है,

जिसके अन्दर मुझको लगता
सौ व्यास उसासें भरते हैं;
जो व्याकुल मन थिर करते हैं,
मैं, काश कि, अपने गीतों में
कुछ ऐसे अर्थ समो पाता!
जब व्यास उसासें भरता था,
मैं कैसे जाकर सो जाता!

३३

मैं हूँ उनका पौत्र, पड़ा था जिनके पाँव ग़दर का गोला।
सीख चुका हूँ अब मैं दोनों,
घायल करना, घायल होना,
बालपने में चोटें खाकर
जब कि शुरू करता था रोना—
धोना, झुकी कमर के बूढ़े
कुछ तनकर यह बतलाते थे,
तुम हो उनके पौत्र, पड़ा था जिनके पाँव ग़दर का गोला।

सुना फ़िरंगी फ़ौजें आतीं,
लेकर तेग़ जगत पर बैठे,
बाँधे हुए कमर में फेंटा
सिर पर पगड़ी, मूँछें ऐंठे;
हुक्म ज़नाने में पहुँचाया—
कूद कुएँ में जायँ धमाधम,
गोरी टुकड़ी ने आकर यदि इस बखरी पर हमला बोला।
मैं हूँ उनका पौत्र, पड़ा था जिनके पाँव ग़दर का गोला।

एक सन्न से गोला आया,
तेग़ कुएँ के बीच बहाई,

'छिपकर वार फिरंगी करता,
कौन करे नामर्द लड़ाई ।'
खींच डोल से पानी गोला
ठंडा करके घर ले आए,
मेरे बचपन में उससे घी, शाक, दही जाता था तोला ।
मैं हूँ उनका पौत्र, पड़ा था जिनके पाँव ग़दर का गोला ।

फिर न छुई तलवार कभी भी,
बने क़लम के सिर्फ़ पुजारी,
पढ़ी लड़कपन में थी मैंने
लिखी उन्हींकी ख़ालिकबारी;
ख़ुशख़त में लिख-लिख रक्खी थीं
कितनी ही नायाब किताबें;
चकित देखता था मैं उनका बस्ता जब जाता था खोला ।
मैं हूँ उनका पौत्र, पड़ा था जिनके पाँव ग़दर का गोला ।

सन-से बालों, झुर्री वाले
गालों वाली बुढ़ियें आकर,
देख मुझे छुटपन में कहती
थीं, तुम हो अपने आजा पर ।
मैंने देखा नहीं उन्हें था,
केवल इतना सुन रक्खा था,
कड़े कलेजे वाले थे वे, लोग उन्हें कहते थे भोला ।
मैं हूँ उनका पौत्र, पड़ा था जिनके पाँव ग़दर का गोला ।

३४

बाबा के सँग दादी की भी याद जगाना समुचित होगा।

था उनका अरमान काल जब
उन्हें जगत से लेने आए,
माँस धरा उनकी थाली में,
औ' गिलास में मदिरा पाए!

बदल गए लहजे बातों के,
मुझको पड़ता अर्थ बताना,
मतलब था, वे चाह रही थीं
बाबा के आगे मर जाना!

तब के जग-समाज में विधवा,
नहीं सुहागिन, को ये वर्जित
थे, लेकिन भगवान भाग्य में
और कर चुके थे कुछ अंकित।

बाबा के सँग दादी की भी याद जगाना समुचित होगा।

•

पिता-पुत्र जा रहे कहीं थे,
आँधी-पानी, पत्थर आया,

बेटे को छाती से ढककर
पुत्र-प्रेम का मूल्य चुकाया
बाबा ने अपने प्राणों से;
घर में पैसे की थी तंगी,
घर को बेच काम कर डालो,
समझाने आए बजरंगी।
दादी बोलीं, बेच आज घर
उनका काम करा तो दूंगी,
किंतु मुझे कल रोना होगा
तब किसकी ड्योढ़ी ढूँढूंगी ?
हिंदू विधवा की क़िस्मत पर कौन नहीं जो कंपित होगा।
बाबा के सँग दादी की भी याद जगाना समुचित होगा।

नाते-रिश्तेदारों ने भी
उनका बहुत विरोध किया था,
पर मेरी दादी ने जो कुछ
सोच लिया था,सोच लिया था;
बाबा लौह-पुरुष थे, भावों
में, पर, बह जाते थे अक्सर;
दादी कोमल थीं पर आँखें
दृढ़ रखती थीं वस्तुस्थिति पर।
एक दूसरे के पूरक थे
जीवन में थे सुखी इसीसे,

सुनी प्रशंसा केवल उनकी,
सुनी जहाँ, जब और जिसी से।

हृदय और मस्तिष्क उन्हींका
मुखरित हो मेरे छंदों में,
यदि मुझको ज़िदा बन रहना
है हिंदी के तुकबंदों में,

मेरे रक्त नसों के अंदर उनका क्या कुछ संचित होगा!
बाबा के सँग दादी की भी याद जगाना समुचित होगा।

३५

ललितपूर को नमस्कार है जहाँ पिता जन्मे थे मेरे।

मेरे तन में ललितपूर का
कोई कण डोला करता है,
और कहीं पर मेरे स्वर में
उसका स्वर बोला करता है;

मिट्टी इतनी दीन नहीं है
जितनी कवि की आह बताती;
सात पीढ़ियों तक यह मिट्टी
अपना असर दिखाती जाती;

इसीलिए तो आज कि जब मैं
अपने पूरेपन को वाणी
देने का कर यत्न चला हूँ,
याद मुझे आई अनजानी;

ललितपूर को नमस्कार है जहाँ पिता जन्मे थे मेरे।

सुना, जेल के दारोगा बन
मेरे बाबा वहाँ गए थे,
मेल-जोल हो गया सभी से
जल्दी, गो वे नए-नए थे,

थोड़े दिन के बाद नौकरी
जबकि हो गई उनकी पक्की,
दादी पहुँची बाँधे बगचा,
बर्तन, चर्खा, चूल्हा, चक्की।

वहीं पिता जी हुए, वहीं का
अपना मधुर लड़कपन जाना,
पर प्रयाग में, ललितपूर में
अक्सर होता जाना-आना;
शिकरम के दिलचस्प सफ़र थे याद पिता जी को बहुतेरे।
ललितपूर को नमस्कार है जहाँ पिता जन्मे थे मेरे।

सुनी उन्हींसे थी मैंने यह
जुड़ी जन्म के साथ कहानी,
उसी राह में, किसी जगह पर
एक तीर्थ है भुइयाँ रानी,

पूजा करते समय वहीं पर
बाम अंग दादी का फरका,
मन्नत मानी सात चुनर की
जो घर में खेलेगा लड़का।
आते-जाते हठकर दादी
भुइयाँ रानी को जाती थीं,
औ' हर बार वहाँ देवी को
पीली चुनरी पहनाती थीं।

भुइयाँ रानी !—नाम सोचकर
मैं विभोर अब हो जाता हूँ,
नामकरण करने वाले की
रुचि,रस को किस भाँति सराहूँ!
मुझे कभी जाकर करने हैं उस कवित्वमय थल के फेरे।
ललितपूर को नमस्कार है जहाँ पिता जन्मे थे मेरे।

३६

हर ख़ुशी में, हर मुसीबत में मुझे, हे पूज्य, तुम हो याद आते।
घूम आधा विश्व, आधी ज़िंदगी को
पारकर यह सत्य जाना
श्रेष्ठ दुनिया में नहीं इसके सिवा कुछ
प्यार करना, गीत गाना,
आज वाणी संग में है, दिल भरा है
औ' तुम्हारा चित्र आगे,
हर ख़ुशी में, हर मुसीबत में मुझे, हे पूज्य, तुम हो याद आते।

क्योंकि दोनों काम उसका है कि जिसके
पास केहरि का हिया हो,
साँप ने नापा न जिसको, साथ जिसका
झड़-बवंडर ने किया हो,
सिंह के ही कंठ से आवाज़ उठती
है कि जंगल गूँजता है,
कोकिलाएँ कूकतीं, बुलबुल चहकते और भौंरे मिनमिनाते।
हर ख़ुशी में, हर मुसीबत में मुझे, हे पूज्य, तुम हो याद आते।

हर्फ़ तख़्ती पर लिखे थे जबकि लाँबे,
तुम कहीं मन में बसे थे,
मास्टर जी कुछ न समझे भेद इसका,
देखकर कितना हँसे थे !
यत्न मेरा अब कि मेरे लफ़्ज़ में हो
क़द तुम्हारा; तुम समझते
थे फलेंगे, जो कि अपनी अक़्ल अपनी नस्ल की ताक़त बढ़ाते।
हर ख़ुशी में, हर मुसीबत में मुझे, हे पूज्य, तुम हो याद आते।

था सबल समझा कभी तुमने मुझे या
भावनाओं में बहे थे,
याद हैं वे शब्द मुझको जो कि तुमने
मृत्यु-शय्या पर कहे थे—
मैं बड़ा सौभाग्यशाली उस पिता को
और उस माँ को समझता
हूँ कि जिसके पूत के मज़बूत—पाएदार काँधे लाश उसकी हैं उठाते।
हर ख़ुशी में, हर मुसीबत में मुझे, हे पूज्य, तुम हो याद आते।

३७

हूँ उनकी औलाद जिन्होंने जीवन में थी भीति न जानी।
घटना और परिस्थितियों से
दहका करके आग-अँगारा,
इम्तहान मेरा लेने को
जब-जब दुनिया ने ललकारा,
पूज्य पिता के फ़ौलादीपन
की तब मन को याद दिलाई–
हूँ उनकी औलाद जिन्होंने जीवन में थी भीति न जानी।

एक बार था मचा शहर में
हिंदू-मुसलमान का दंगा,
हुआ हमारे घर के आगे
दो तुर्कों का बध बेढंगा;
चंपत हुए मारनेवाले,
लेकिन गए पिता जी पकड़े
औ' दस-पाँच पड़ोसी–शंकर, सुद्धन, मंगल, भीख, भवानी।
हूँ उनकी औलाद जिन्होंने जीवन में थी भीति न जानी।

हाहाकार मचाया सबने
हाय राम, क्या होने वाला,

किसको-किसको फाँसी होगी,
किसको-किसको पानी काला,
रोना-धोना औ' चिल्लाना
काम यही था भर दिन सबका,
देख-देख कादरपन उनका हुई पिता जी को हैरानी।
हूँ उनकी औलाद जिन्होंने जीवन में थी भीति न जानी।

बोले, मेरे लाल सयाने,
बुढ़िया मेरी हरि-विश्वासी,
मैं कह दूँगा तुर्क बधे हैं
मैंने, मुझको दे दो फाँसी,
नहीं किसीका घर उजड़ेगा,
एक मुझे है मरना-जीना;
जाकर पूछ किसीसे लेना कटघर में मशहूर कहानी।
हूँ उनकी औलाद जिन्होंने जीवन में थी भीति न जानी।

अद्वितीय कितनी ही बातें
उनकी याद मुझे हैं आती,
कुछ मैंने ख़ुद ही देखी थीं,
कुछ अम्मा जी थीं बतलाती,
सबमें हिम्मत और कड़कपन
या फिर दरिया दिली ग़ज़ब की,
और लगूँगा कहने तो फिर होगा यह क़िस्सा तूलानी।
हूँ उनकी औलाद जिन्होंने जीवन में थी भीति न जानी।

३८

जीभ को तुमने सिखाया बोलना औ'
गीत की लय कान में तुमने बसा दी।
सूर्य की आँखों तले अभिमान जिसने
भी, जहाँ, जिस दोष-गुण का, जब किया है,
यह वही साबित हुआ, जिसको कि उसने
एक माँ के दूध से गाया, पिया है,
भाग्य में जिसके लिखा हो कवि बने वह,
तो उसे जो माँ मिले, हो तुम सरीखी,
जीभ को तुमने सिखाया बोलना औ'
गीत की लय कान में तुमने बसा दी।

याद आते हैं लड़कपन के सबेरे,
मुँह-अँधेरे जबकि राधे–श्याम कहकर,
तुम उठी हो दे बुहारी, धो-नहाकर
ध्यान-पूजा से निबट गृह-काज-तत्पर
हो गई हो; हाथ धंधों में लगा है,
कंठ मीरा, सूर, तुलसी के भजन में,
और बिस्तर में रजाई से लिपटकर
आँख मूँदे सुन रहा हूँ मैं प्रमादी।

जीभ को तुमने सिखाया बोलना औ'
गीत की लय कान में तुमने बसा दी।

और सुंदर कांड कितने मंगलों को
था सुना मुँह से तुम्हारे, याद आता--
कौन शुभ किस रास्ते से आ निकलता
है नहीं इंसान इसको जान पाता--
उस समय चुप, मष्ट मारे बैठने का
एक ही था सामने मेरे प्रलोभन,
पाठ का जब अंत होता था मगद के
लड्डुओं की थी मिला करती प्रसादी।
जीभ को तुमने सिखाया बोलना औ'
गीत की लय कान में तुमने बसा दी।

और कितनी बार घुटनों में तुम्हारे,
जबकि घर में गीत का त्योहार होता
था, मजीरों, ढोल, ताशों की गमक में,
बैठकर लय, ताल, सुर था मैं सँजोता,
और मेरे झूमने पर जबकि तुमने
पीठ मेरी थपथपाई थी लगा था--
'सुरसती' ने मूक-मृत पाषाण छूकर
राग भरती आग जैसे हो जगा दी!
जीभ को तुमने सिखाया बोलना औ'
गीत की लय कान में तुमने बसा दी।

३९

याद आते हो मुझे तुम, ओ, लड़कपन के सबेरों के भिखारी !
तुम भजन गाते, अँधेरे को भगाते
रास्ते से थे गुज़रते,
औ' तुम्हारे एक तारे या सरंगी
के मधुर सुर थे उतरते
कान में, फिर प्राण में, फिर व्यापते थे
देह की अनगिन शिरा में;
याद आते हो मुझे तुम, ओ, लड़कपन के सबेरों के भिखारी !

औ' सरंगी-साधु से मैं पूछता था,
क्या इसे तुम हो खिलाते ?
'ई हमार करेज खाथै, मोर बचवा,'
खाँसकर वे थे बताते,
और मैं मारे हँसी के लोटता था,
सोचकर उठता सिहर अब,
तब न थी संगीत-कविता से, कला से, प्रीति से मेरी चिन्हारी।
याद आते हो मुझे तुम, ओ, लड़कपन के सबेरों के भिखारी !

बैठ जाते औ' सुनाते गीत गोपी–
चंद, राजा भरथरी का,
राम का बनवास, ब्रज की रास लीला,
ब्याह शंकर-शंकरी का,
औ' तुम्हारी धुन पकड़कर कल्पना के
लोक में मैं घूमता था,
सोचता था, मैं बड़ा होकर बनूँगा बस इसी पथ का पुजारी।
याद आते हो मुझे तुम, ओ, लड़कपन के सबेरों के भिखारी !

खोल झोली एक चुटकी दाल-आटा
दान में तुमने लिया था,
क्या तुम्हें मालूम जो वरदान तुमने
गान का मुझको दिया था;
लय तुम्हारी, स्वर तुम्हारे, शब्द मेरी
पंक्ति में गूँजा किए हैं,
और ख़ाली हो चुकीं, सड़-गल चुकीं वे झोलियाँ कब की तुम्हारी।
याद आते हो मुझे तुम, ओ, लड़कपन के सबेरों के भिखारी !

४०

हाय, शालिग्राम, तुम भाई न थे, तुम दाहिनी थे बाँह मेरी।
था कहा तुमने कि, बीती को भुलाना;
आँख से आँसू बहाते;
वे अलग होते नहीं जो एक माँ की
कोख से हैं जन्म पाते,
हम लड़े पर वक़्त पड़ने पर हमेशा
साथ हम थे, एक हम थे;
हाय, शालिग्राम, तुम भाई न थे, तुम दाहिनी थे बाँह मेरी।

उम्र कच्ची थी, गृहस्थी और कच्ची,
था अभी तुमको न मरना,
मैं बड़ा था और तुमसे पूर्व मुझको
था जगत से कूच करना,
खेलता आया सदा था ज़िंदगी की
आग से मैं इस भरोसे—
तुम खड़े पीछे; गए जब तो गए ले आख़िरी तुम छाँह मेरी
हाय, शालिग्राम, तुम भाई न थे, तुम दाहिनी थे बाँह मेरी।

जबकि मैंने देश-दुनिया भूल कविता-
कामिनी का मर्ज़ पाला,
तब पसीने की कमाई से तुम्हींने
था समूचा घर सँभाला;
राग-रस पकते तभी हैं जबकि फ़ुरसत
से उन्हें कोई [पकाए;
कर मुझे बेफ़िक्र तुमने ही सरल औ' साफ़ की थी राह मेरी।
हाय, शालिग्राम, तुम भाई न थे, तुम दाहिनी थे बाँह मेरी।

चार बहनों-भाइयों के बीच केवल
एक मैं बाक़ी बचा हूँ,
काल का उद्देश्य कोई पूर्ण करने
को गया शायद रचा हूँ,
और क्या आता मुझे है, सिर्फ़ इसको
छोड़—तुक से तुक मिलाना;
है अभी मुखरित कहाँ हर एक सुख की साँस, दुख की आह मेरी।
हाय, शालिग्राम, तुम भाई न थे, तुम दाहिनी थे बाँह मेरी।

४१

राह कल्पना की तुमने ही सबसे पहले थी दिखलाई।
आठ बरस का था मैं, दिन थे
वर्षा के, थी रात अँधेरी,
काले, फूले, फैले मेघों
ने थीं चार दिशाएँ घेरीं,
रह-रह दामिनि दमक रही थी,
कड़क रही थी, याद मुझे है,
राह कल्पना की तब तुमने सबसे पहले थी दिखलाई।

'बोलो दीदी, यह गड़-गड़ का
शोर कहाँ से नीचे आता?'
'इन्द्र हुआ असवार-अश्व पर
बादल पर उसको दौड़ाता,
नालों से जो फूट कभी है
पड़ती चिन्गारी, वह बिजली,
गर्जन है, टापों के पड़ने से देते जो शब्द सुनाई।'
राह कल्पना की तुमने ही सबसे पहले थी दिखलाई।

विद्युत गति से चलनेवाला
होगा कैसा अद्भुत घोड़ा,

उस पर वश रख सकने वाला
होगा कैसा कर्कश कोड़ा !
हृदय-सिन्धु से मेरे उस दिन
उच्चैः श्रवा निकल भागा था,
तीन लोक, तीनों कालों में पैठ सहज थी उसने पाई।
राह कल्पना की तुमने ही सबसे पहले थी दिखलाई।

निज इच्छा वह आता, मुझको,
जहाँ चाहता, जब, ले जाता,
उसकी गति-विधि, मति-मंशा का
पता नहीं मैं कुछ भी पाता,
कभी मुझे, धरती ही पर जो
चरते, उनसे ईर्ष्या होती,
और कभी वे बंदे मुझको देते हैं दयनीय दिखाई।
राह कल्पना की तुमने ही सबसे पहले थी दिखलाई।

स्वर्ग लोक से बोलो—कैसे
इस पर ज़ीन-लगाम चढ़ाऊँ,
इस मुँहज़ोर तुरग को कैसे
जाँघों में कस बस में लाऊँ,
कलाकार वह बड़ा, कला पर
अपनी, जो हावी होता है,
अब दुनिया कहती है अपनी चालों का मैं उत्तरदायी।
राह कल्पना की तुमने ही सबसे पहले थी दिखलाई।

४२

मैं तुम्हें पत्नी समझ पाया कहाँ था, खेल की तुम थीं सहेली !
कुछ सजावट, कुछ बनावट, कुछ तमाशा
दो घरों का याद मुझको,
दे गया था फिर न जाने कौन मेरे
ब्याह का संवाद मुझको,
इस प्रदर्शन के हमीं-तुम केंद्र थे, यह
तो बहुत दिन बाद सूझा,
मैं तुम्हें पत्नी समझ पाया कहाँ था, खेल की तुम थीं सहेली !

उस लड़कपन औ' जवानी के शुरू की
उलझनों को क्या बताऊँ,
भूलने का नाम वे लेती नहीं हैं
मैं उन्हें कितना भुलाऊँ !
एक दिन मैं सत्य की ले लाश बैठा,
और सपना उड़ गया था,
जिस दिवस आईं उसी दिन की तरह थी आज भी पीली हथेली !
मैं तुम्हें पत्नी समझ पाया कहाँ था, खेल की तुम थीं सहेली !

प्यार किस दिन था तुम्हारा और मेरा,
तुम वही थीं जो कि मैं था,
हम अलग हो जायँगे इसकी कभी भी
थी न शंका औ' न भय था,
किंतु उस दिन से धरातल दो तुम्हारे
और मेरे हो गए थे—
जर्जरित प्रतिपल यहाँ मैं, पर कहीं थीं सर्वदा को तुम नवेली।
मैं तुम्हें पत्नी समझ पाया कहाँ था, खेल की तुम थीं सहेली!

खोजता मैं उस धरातल को अँधेरे
के तलातल में समाया,
औ' वहाँ मैंने कटारी-सा चमकता
एक नूतन चाँद पाया;
कुछ नियति संकेत समझा औ' उसे ले
बस कलेजे में धँसाया,
रक्त से मुझको नहाना था मगर मैं
एक आभा में नहाया।
आँख जो ऊपर उठाई तो सितारे
दो रहे थे कर इशारे,
और तब से आज तक चलता रहा हूँ
एक उनके ही सहारे!
उस तिमिर की श्यामता में क्यों छिपा था तेज, मुझको यह पहेली।
मैं तुम्हें पत्नी समझ पाया कहाँ था, खेल की तुम थीं सहेली!

४३

श्यामा रानी थी पड़ी रोग की शय्या पर,
दो सौ सोलह दिन कठिन कष्ट में थे बीते,
संघर्ष मौत से बचने और बचाने का
था छिड़ा हुआ, या हम जीतें या वह जीते।

सहसा मुझको यह लगा, हार उसने मानी,
तन डाल दिया ढीला, आँखों से अश्रु बहे,
बोली, 'मुझपर कोई ऐसी रचना करना,
जिससे दुनिया के अंदर मेरी याद रहे।'

मैं चौंक पड़ा, ये शब्द इस तरह के थे जो
बैठते न थे उसके चरित्र के ढाँचे में,
वह बनी हुई थी और तरह की मिट्टी से,
वह ढली हुई थी और तरह के साँचे में,

जिसमें दुनिया के प्रति अनंत आकर्षण था,
जिसमें जीवन के लिए असीम पिपासा थी,
जिसमें अपनी लघुता की वह व्यापकता थी,
यश,नाम, याद की रंच नहीं अभिलाषा थी।

क्या निकट मृत्यु के आ मनुष्य बदला करता
चट मैंने उसकी आँखों में आँखें डालीं,
वे झूठ नहीं पल भर पलकों में छिपा सकीं,
वे बोल उठीं सच, थीं इतनी भोली-भाली।

'जब मैं न रहूँगी तब घड़ियों का सूनापन,
ख़ालीपन तुम्हें डरायेगा, खा जाएगा,
मेरा कहना करने में तुम लग जाओगे,
तो वह विधुरा घड़ियों का मन बहलाएगा।'

मैं बहुत दिनों से ऐसा सुनता आता हूँ,
जो ताज आगरा में जमुना के तट पर है,
मुमताज़महल के तन-मन की मोहकता के
प्रति शाहजहाँ का प्रीति-प्रतीक मनोहर है।

मुमताज़ आख़िरी साँसों से यह बोली थी,
'मेरी समाधि पर ऐसा रौज़ा बनवाना,
जैसा न कहीं दुनिया में हो, जैसा न कभी
संभव हो पाए फिर दुनिया में बन पाना।'

मुमताज़महल जब चली गई तब शाहजहाँ
की सूनी, ख़ाली, काली, कातर घड़ियों को,
यह ताजमहल बहलाता था, सहलाता था,
जोड़ा करता था सुधि की टूटी लड़ियों को।

मुमताज़महल भी नहीं नाम की भूखी थी,
आख़िरी नज़र से शाहजहाँ की ओर देख,
वह समझ गई थी जो रहस्य संकेतों से
बतलाती थी उसके माथे पर पड़ी रेख।

वह काँप उठी, अपनी अंतिम इच्छा कहकर
वह विदा हुई औ' शाहजहाँ का ध्यान लगा,
उन अशुभ इरादों से हटकर उन सपनों में
जो अपने अस्फुट शब्दों से वह गई जगा।

यह ताज शाह का प्रेम-प्रतीक नहीं इतना
जितना मुमताज़महल के कोमल भावों का,
जो जीकर शीतल सीकर बनता तापों पर,
जो मरकर सुखकर मरहम बनता घावों का !

४४

गाता हूँ अपनी लय-भाषा सीख इलाहाबाद नगर से।
पढ़ता हूँ अंग्रेज़ी जिसने
द्वार जगत-कविता के खोले,
रहती है मन की मन ही के
बीच बिना अवधी में बोले,
लिखता हूँ हिंदी में जिसकी
है उर्दू के साथ मिताई,
गाता हूँ अपनी लय-भाषा सीख इलाहाबाद नगर से।

और यहीं के मिट्टी-पानी
से विरचित है मेरी काया,
अरे पूर्वजो, किस तप-बल से
था तुमने वह पुण्य कमाया,
ऊँचा से ऊँचा भी अंतिम
बार यहाँ रजकण बन आता?
भारत की धरती के ऊपर चल आई यह रीति सगर से।
गाता हूँ अपनी लय-भाषा सीख इलाहाबाद नगर से।

भरद्वाज मुनि जहाँ बसे थे
उसी जगह पर आते-जाते

मेरी आधी उम्र चुकी है
लिखते-पढ़ते और पढ़ाते
उनके यज्ञस्थल पर अब भी
सरस्वती सरिता लहराती,
अनुमानो उसकी गहराई मत मेरी इस अल्प नगर से।
गाता हूँ अपनी लय-भाषा सीख इलाहाबाद नगर से।

जिस बोली में गंगा-जमुना
आपस में बोला करती हैं,
जाड़ा, गर्मी, बरसातों में
जिस गति से डोला करती हैं,
नक़ल उसीकी मैंने की है
अपने शब्द, पदों, छंदों में
मेरी स्वर लहरी आई है गंग-जमुन की लहर अमर से।
गाता हूँ अपनी लय-भाषा सीख इलाहाबाद नगर से।

४५

तुम कभी नहीं मुड़कर पीछे देखा करते,
तुम कहीं नहीं थमते पल भर दम लेने को,
तुम आगे ही बढ़ते जाते, पंथी, पूछूँ,
है कौन तुम्हारी झोली में ऐसा संबल ?
जीवन के पथ पर है कोई चलनेवाला
बीते दिन की कुछ सुधियाँ जिसके साथ नहीं,
जो फिर-फिर उठकर अंतर को मथती रहतीं,
थिर जो रहने देतीं क्षण भर को माथ नहीं ?
मिट्टी का चोला जो धरकर के आया है,
उसको मिट्टी का धर्म निभाना होगा ही,
शीतल छाया में बैठ थके-माँदे पैरों
को सुस्ता लेने देना है अपराध नहीं;
जो मग तै, मंज़िल का कर चुकते हैं निश्चय,
वे भी संशय से मुक्त कहाँ रह पाते हैं ?
तुम कभी नहीं मुड़कर पीछे देखा करते,
तुम कहीं नहीं थमते पल भर दम लेने को,
तुम आगे ही बढ़ते जाते, पंथी, पूछूँ,
है कौन तुम्हारी झोली में ऐसा संबल ?

काले-काले बादल उठ आठ दिशाओं से
घेरे लेते हैं नभ के चौड़े आँगन को,
चपला का चाबुक ऐसा तन पर पड़ता है
वे रोक नहीं पाते हैं अपने क्रंदन को,
किस बन के पल्लव-नीड़ों में जा छिपने को
यह पवन बड़ी तेज़ी से भागा जाता है,
आतंक भरे ऐसे पल में शरणस्थल की
आवश्यकता होती ही है मानव मन को,
नदियों में उमड़ी बाढ़, पर्वताकार लहर
विक्षुब्ध उदधि में उठ-उठ फिर-फिर गिरती है,
तुम कभी नहीं रुकते अंबुधि के गर्जन से,
तुम कभी नहीं थमते जलधर के तर्जन पर,
तुम आगे ही बढ़ते जाते, पंथी, पूछूँ,
है कौन तुम्हारी छाती में ऐसी हलचल ?

तुम कभी नहीं मुड़कर पीछे देखा करते,
तुम कभी नहीं थमते पल भर दम लेने को,
तुम आगे ही बढ़ते जाते, पंथी, पूछूँ,
हे कौन तुम्हारी झोली में ऐसा संबल ?

तुम भाग्य सराहो अपना, ऐसा कम होता,
विथकित घड़ियों के पास पड़ी अमराई है,
मृदु मंजरियों के सौरभ से मदमस्त हवा
यह कहती है मधुऋतु की बेला आई है,

किस धुँधले, गहरे, बिसरे युग की हूक सजग
हो उठती है कोयल की पंचम तानों से,
किन आदिम, अस्फुट भावों की सोई ध्वनियाँ,
भौंरों के गुन-गुन में लेती अँगड़ाई हैं,
मधुवन आया, गुज़रा, पीछे भी छूट गया,
बन-रागिनियाँ हो मंद, मधुर कुछ और हुईं,
तुम कभी नहीं रुकते कोकिल के कूजन से,
तुम कभी नहीं थमते भ्रमरों के गुंजन पर,
तुम आगे ही बढ़ते जाते, पंथी, पूछूँ,
है तुम्हें सुनाई देती किसकी पग-पायल ?
तुम कभी नहीं मुड़कर पीछे देखा करते,
तुम कभी नहीं थमते पल भर दम लेने को,
तुम आगे ही बढ़ते जाते, पंथी, पूछूँ,
है कौन तुम्हारी झोली में ऐसा संबल ?

आँखों में गड़नेवाले जग से घबराकर
चिंतित प्राय: अंबर को देखा करते हैं,
नीले नभ में क्या स्वप्न सजीले बसते हैं,
नखतों से किन गीतों के निर्झर झरते हैं,
जो लाख परेशानी में भी मन बहलाते,
जो सहलाते गहरी से गहरी चोटों को,
सिर नीचा रखनेवालों की कितनी चिंता,
तृण-पत्तों की पलकों के जलकण हरते हैं,

किसको फुरसत है शीश उठा देखे ऊपर,
किसको छुट्टी है शीश झुका नीचे देखे,
तुम कभी नहीं रुकते तारों के गायन से,
तुम कभी नहीं थमते शबनम के रोदन पर,
तुम आगे ही बढ़ते जाते, पंथी, पूछूँ,
तुमसे मिलने को कौन कहाँ व्याकुल-विह्वल ?
तुम कभी नहीं मुड़कर पीछे देखा करते,
तुम कहीं नहीं थमते पल भर दम लेने को,
तुम आगे ही बढ़ते जाते, पंथी, पूछूँ,
है कौन तुम्हारी झोली में ऐसा संबल ?

४६

एक गीत ऐसा मैं गाऊँ, भूमि लगे स्वर्गों से प्यारी !

रूपमती, रंजित, रसवंती,
गंधमयी यह भूमि हमारी,
लेकिन फिर भी स्वर्ग प्रशंसित,
स्वप्न-कल्पना की बलिहारी !
आज दूर का ढोल, निकट की
बीन बजें, दोनों झंकृत हों,
एक गीत ऐसा मैं गाऊँ, भूमि लगे स्वर्गों से प्यारी !

इतना छोटा हृदय कि तुमने
एक जगह पर वार दिया है,
व्यर्थ गगन पर उडुगण, भू पर
फूलों ने श्रृंगार किया है,
अपने प्रिय-सी छवि दिखलाई
दे मुझको हर कण, हर क्षण की,
एक प्रीति ऐसी कर पाऊँ, भूमि लगे स्वर्गों से प्यारी !
एक गीत ऐसा मैं गाऊँ, भूमि लगे स्वर्गों से प्यारी !

सुर संतुष्ट बहुत हैं इससे,
मृत्यु विजय करके बैठे हैं,
पत्थर की प्रतिमा हो जाने
के ऊपर इतना ऐंठे हैं!

दृग-जल वत् अपने प्राणों को
पुनः-पुनः न्योछावर करके,
एक जीत ऐसी मैं लाऊँ, भूमि लगे स्वर्गों से प्यारी!
एक गीत ऐसा मैं गाऊँ, भूमि लगे स्वर्गों से प्यारी!

चली सदा से जो आई है
मानव की गर्वीली थाती,
तरसा करती जिसको पाने
को देवों की वंध्या छाती,

लेती है अवतार अमरता
जिसके अंदर से धरती पर,
एक पीर ऐसी अपनाऊँ, भूमि लगे स्वर्गों से प्यारी!
एक गीत ऐसा मैं गाऊँ, भूमि लगे स्वर्गों से प्यारी!

४७

आज न मुझसे बोलो, अपने अंतस्तल में राग लिए मैं।

ओछे आज मुझे लगते हो
ओ, जो तुम धन-धाम सँवारे,
थोथे आज मुझे लगते हैं
पोथे, नाम, ख़िताब तुम्हारे,
गुड्डे-गुड़िया, राजा-रानी,
खेल-खिलौने, दंड-सिंहासन,
आज न मुझसे बोलो, अपने अंतस्तल में राग लिए मैं।

नीति बनाकर तुम लौटे हो,
देश चलेगा पीछे-पीछे,
एक उठेगा यदि ऊपर को
एक चला जाएगा नीचे,
सबके हित की बात अकेली
कवि की वाणी कर सकती है,
अपने स्वर में आने वाली मानवता का भाग लिए मैं।
आज न मुझसे बोलो, अपने अंतस्तल में राग लिए मैं।

बैंड, बिगुल, झंडे, सेना के
ऊपर तुम ऐंठे, सेनानी,
सबके अंतर्पट पर लिखता
हूँ मैं अपनी जीत-काहनी
गीत सुनाकर, तुमसे ऊँची
गर्दन करके क्यों न चलूँ मैं,
केवल अपने हाथों के बल मन की वीणा साथ लिए मैं।
आज न मुझसे बोलो, अपने अंतस्तल में राग लिए मैं।

कूद पड़ा मैं, मुझको जीवन
की लहरों ने था ललकारा,
हुआ सदा करता है काफ़ी
मुझे प्रकृति का एक इशारा,
आज कला, नैतिकता दोनों
अंगीकार नहीं कर सकते,
और न तज ही सकते मुझको, ऐसा सुंदर पाप किए मैं।
आज न मुझसे बोलो, अपने अंतस्तल में राग लिए मैं।

४८

गीत मधुर-सुकुमार लिए तू;
भावों का शृंगार लिए तू,
शीश झुका चल,
शीश झुका चल।

घर की छत के ऊपर चढ़कर
जो चिल्लाते, शोर मचाते,
अपना पोलापन दिखलाते,
अपना बौनापन बतलाते;
घर के अनदेखे कोने में
तेरी वाणी की प्रतिध्वनि सुन
अनजानी आहें उठ पड़तीं,
अनजाने आँसू झर जाते।
गीत मधुर-सुकुमार लिए तू,
भावों का शृंगार लिए तू;
शीश झुका चल,
शीश झुका चल।

हल्के उठ जाते हैं ऊपर,
भारी भार लिए हैं नीचे;
जो आगे-आगे इतराते,
देख उधर से, वे हैं पीछे;
उनसे तेरी होड़ नहीं है,
तेरा उनका जोड़ नहीं है;

उनको दुनिया खींच रही है,
दुनिया चलती तेरे खींचे,
बहुत मिला तुझको जीवन से,
बहुत मिला साहित्य-मनन से)
कर्ज़ चुका चल,
कर्ज़ चुका चल।
गीत मधुर-सुकुमार लिए तू,
भावों का शृंगार लिए तू,
शीश झुका चल,
शीश झुका चल।

४६

अनमिल तार सभी बाहर के, अंदर के कुछ तार मिला लूँ।
अंबर का संगीत किसी दिन
ओस कणों ने दुहराया था,
ओस कणों का राग किसी दिन
इंद्रधनुष ने अपनाया था;
दोनों में अलगाव किए अब
अंधड़ एक अधर में उठकर,
अनमिल तार सभी बाहर के, अंदर के कुछ तार मिला लूँ।

मंद पवन को मैंने देखा
कलिका-कलिका को हलराते,
अंध पवन को देख रहा हूँ
गिन-गिन उनको तोड़ गिराते;
मधुवन के जो फूल गए झड़
अब तो उनकी शरण धरणि है;
मन के जो सूखे-मुर्झाए ऐसे ही कुछ फूल खिला लूँ।
अनमिल तार सभी बाहर के, अंदर के कुछ तार मिला लूँ।

एक साँस लय के अंतर में
गीत सृजन का भर सकती है,
एक साँस यदि उसमें दम हो
तो क्या से क्या कर सकती है !
वह साँसों की साँस बड़े तप–
साधन से वश में आती है,
कर लूँगा संतोष अगर मैं अपने सपने चार जिला लूँ।
अनमिल तार सभी बाहर के अंदर के कुछ तार मिला लूँ।

सत्य मिटा जाता है, मैं हूँ
सपनों का संसार बनाए,
पर इन सपनों में ही सच का
मैं हूँ कुछ-कुछ अंश बचाए,
सत्य प्रतिष्ठित होगा जिस दिन
फिर से, इसका राज़ खुलेगा,
आज सशंक जगत को कैसे मैं इसका विश्वास दिला दूँ।
अनमिल तार सभी बाहर के, अंदर के कुछ तार मिला लूँ।

५०

काम शाहंशाह का है या फकीरों का बनाना गीत, गाना।
यह कहा किसने कि जिसके शीश पर है
ताज बस राजा वही है,
और उनको क्या कहोगे राज्य जिनके
वास्ते कुछ भी नहीं है,
वे कुबेरी संपदा को भावना की
कौड़ियों पर बेच आते,
काम शाहंशाह का है या फ़कीरों का बनाना गीत, गाना।

कंटकों का जो मुकुट मस्तक चढ़ाए
हूँ, उन्हींकी है वसीयत,
जो भिखारी का बनाए भेस घूमे,
राजसी, पर, थी तबीयत,
हैं उन्हींके दान से धनवान दुनिया
और वैभवमान दुनिया,
जो बने संतान उनकी काम उसका उस ख़ज़ाने को बढ़ाना।
काम शाहंशाह का है या फ़कीरों का बनाना गीत, गाना।

प्रेरणाएं किन सुरा के निर्झरों से
जाम भर-भर ला रही हैं,
और कविता-सुंदरी अविराम पीती,
मस्त होती जा रही है;
क़स्म ली थी, मैं न प्याले को छुऊँगा
होठ से, लेकिन, अधर को ?······
मैं समझ सकता भली विधि, स्वर्ग का सौभाग्य पर मेरे सिहाना।
काम शाहंशाह का है या फ़क़ीरों का बनाना गीत, गाना।

यामिनी है, कामिनी है और सिर में
देवताओं का नशा है,
बोलता जो प्र'ध्वनित आकाश करता
और दुहराती रसा है,
ढूँढने जाता नहीं हूँ मैं ज़माने
को कभी इस तख़्त से हट,
सौ ग़रज़ उसको पड़ी हो तो मुझे ही खोजने आए ज़माना।
काम शाहंशाह का है या फ़क़ीरों का बनाना गीत, गाना।

५१

वन कोकिल का कंठ मुझे दो, कंधों को पर्वत के पर दो।
मुझे चाहिए वन जीवन का
जिसमें यौवन हो अमराई,
साँस नई जिसमें वासंती
स्वस्थ सँदेसा हो ले आई,
नई भूख से, नई हूक से,
नई कूक से जो अस्थिर हो,
वन कोकिल का कंठ मुझे दो, कंधों को पर्वत के पर दो।

है कोई भौगोलिक, जिसने
जीवन की सीमा बतलाई,
जो कि सका है आँक जवानी
की ऊँचाई औ' गहराई
नव पल्लव, मृदु मंजरियों में
फुदक-फुदक पिक थक जाता है,
चीर मुझे विचरण करना है चौमापी धरती-अंबर को।
वन कोकिल का कंठ मुझे दो, कंधों को पर्वत के पर दो।

कोयल ने तो एक तान में
सार प्रकृति का छान लिया है,
किंतु नहीं मानव-दुनिया को
दान हुआ ऐसा रसिया है;
इसपर कहते ही, लिखते ही
कही-लिखी हर बात पुरानी;
जितनी बार खुले मुख मेरा, भाव नए, नव पद, लय, स्वर दो।
वन कोकिल का कंठ मुझे दो, कंधों को पर्वत के पद दो।

हर नूतन गति-ध्वनि से डरने
वाले बुज़दिल पास कहीं हैं,
कहते, 'ज्ञात अचल-पंखों का
क्या तुमको इतिहास नहीं है ?'
नहीं ग़लतफ़हमी है मुझको
अपने बाज़ू के बारे में,
लक्ष्य शक्र-शर का बनना भी, कुछ मानी रखता, नामर्दो !
वन कोकिल का कंठ मुझे दो, कंधों को पर्वत के पर दो।

५२

अंग से मेरे लगा तू अंग ऐसे, आज तू ही बोल मेरे भी गले से।
पाप हो या पुण्य हो, मैंने किया है
आज तक कुछ भी नहीं आधे हृदय से,
औ' न आधी हार से मानी पराजय
औ' न की तसकीन ही आधी विजय से;
आज मैं सम्पूर्ण अपने को उठाकर
अवतरित ध्वनि-शब्द में करने चला हूँ,
अंग से मेरे लगा तू अंग ऐसे, आज तू ही बोल मेरे भी गले से।

और है क्या ख़ास मुझमें जो कि अपने
आपको साकार करना चाहता हूँ,
ख़ास यह है, सब तरह की ख़ासियत से
आज मैं इन्कार करना चाहता हूँ;
हूँ न सोना, हूँ न चाँदी, हूँ न मूँगा,
हूँ न माणिक, हूँ न मोती, हूँ न हीरा,
किंतु मैं आह्वान करने जा रहा हूँ देवता का एक मिट्टी के डले से।
अंग से मेरे लगा तू अंग ऐसे, आज तू ही बोल मेरे भी गले से।

श्रौर मेरे देवता भी वे नहीं हैं
जो कि ऊँचे स्वर्ग में हैं वास करते,
श्रौर जो श्रपनी महत्ता छोड़, सत्ता
में किसीकी भी नहीं विश्वास करते;
देवता मेरे वही हैं जो कि जीवन
में पड़े संघर्ष करते, गीत गाते,
मुसकराते श्रौर जो छाती बढ़ाते एक होने के लिए हर दिलजले से।
श्रंग से मेरे लगा तू श्रंग ऐसे, श्राज तू ही बोल मेरे भी गले से।

छप चुकीं मेरी किताबें पूरबी श्रौ'
पच्छिमी——दोनों तरह के श्रक्षर में,
श्रौ' सुने भी जा चुके हैं भाव मेरे
देश श्रौ' परदेश——दोनों के स्वरों में,
पर ख़ुशी से नाचने को पाँव मेरे
उस समय तक हैं नहीं तैयार जब तक,
गीत श्रपना मैं नहीं सुनता किसी गंगोजमुन के तीर फिरते बावले से।
श्रंग से मेरे लगा तू श्रंग ऐसे श्राज तू ही बोल मेरे भी गले से।

५३

मैं प्रकृति-प्राकृत जनों का मान औ' गुनगान करना चाहता हूँ।
तुम उठे ऊँचे यहाँ तक स्वर्ग को ले
गोद में तुमने खेलाया,
किंतु क्या यह सच नहीं, तुमने धरणि की
भावनाओं को भुलाया ?
और वाणी को गए सौगंध देकर
एक हरि का यश बखाने,
सिर धुने, पछताय, अपना भाग्य कोसे
दूसरा यदि नाम जाने;
बोलने को आज व्याकुल हो रही है
भूमि की सोई हुई तह,
यदि गिरा गिरती नहीं है आज नीचे
व्योम में खो जायगी वह,
निम्न कुछ ऐसा नहीं जिसको छुए वह
औ' न ऊपर को उठाए,
मैं प्रकृति-प्राकृत जनों का मान औ' गुनगान करना चाहता हूँ।

स्वर्ग सब आनन्द-गुण का धाम, उसका
कुछ नहीं है ज्ञान मुझको,
किंतु जो संघर्ष से लिपटी धरणि
उसपर बड़ा अभिमान मुझको;
धन्य तुम हो जो तुम्हें भगवान अपने
साथ में बाँधे हुए थे,
किंतु सोते-जागते कब छोड़ता है
छोहमय इन्सान मुझको ?
और जो उसके हृदय में हलचलें हैं,
कौन उनको जानता है ?
जो नहीं इंसान को पहचानता,
भगवान को पहचानता है ?

मानवों का दु:ख, सुख, बल, भीति जाने,
प्रीति जाने, मुँह न खोले;

मैं किसी युग में किए अपराध का अब दण्ड भरना चाहता हूँ।
मैं प्रकृति-प्राकृत जनों का मान औ' गुनगान करना चाहता हूँ।

व्योम क्या देखा कि तुमने भूमि पर से
आँख ही अपनी हटा ली,
मृत्तिका के पुत्र की, पर, चाहिए
होनी नहीं ऐसी प्रणाली;
एक फ़ौआरा धरा को छोड़ नभ छू
फिर धरा को लौट आता,

वह कभी आकाश के ऊपर नहीं
आवास अपना है बनाता,
(जो न ऊपर चढ़ सके जलधार ऐसी
काम की मेरे नहीं है,
किंतु ऊपर खो गई जो सर्वदा को,
वंचिता उससे मही है,
ऊर्ध्व करता भूमि की आशा, अधोमुख
व्योम का आशीष करता,
मैं अवनि-अंबर मिलाता आज चढ़-चढ़कर उतरना चाहता हूँ।),
मैं प्रकृति-प्राकृत जनों का मान औ' गुनगान करना चाहता हूँ।

५४

गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक़्त बहुतेरा पड़ा है।

सख़्त पंजा, नस-कसी चौड़ी कलाई
और बल्लेदार बाहें,
और आँखें लाल चिन्गारी सरीखी,
चुस्त औ' सीखी निगाहें,
हाथ में घन और दो लोहे निहाई
पर धरे तो, देखता क्या;
गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक़्त बहुतेरा पड़ा है।

भीग उठता है, पसीने से नहाता
एक से जो जूझता है,
ज़ोम में तुझको जवानी के न जाने
ख़ब्त क्या-क्या सूझता है,
या किसी नभ देवता ने ध्येय से कुछ
फेर दी यों बुद्धि तेरी,
कुछ बड़ा तुझको बनाना है कि तेरा इम्तहाँ होता कड़ा है।
गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक़्त बहुतेरा पड़ा है।

एक गज़ छाती मगर सौ गज़ बराबर
हौसला उसमें, सही है;
कान करनी चाहिए जो कुछ तजुर्बे–
कार लोगों ने कही है;
स्वप्न से लड़ स्वप्न की ही शक्ल में है
लौह के टुकड़े बदलते,
लौह-सा वह ठोस बनकर है निकलता जो कि लोहे से लड़ा है।
गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक़्त बहुतेरा पड़ा है।

घन-हथौड़े और तौले हाथ की दे
चोट अब तलवार गढ़ तू,
और है किस चीज़ की तुझसे भविष्यत
माँग करता, आज पढ़ तू,
औ' अमित संतान को अपनी थमा जा
धारवाली यह धरोहर,
वह अजित संसार में है शब्द का खर खड्ग लेकर जो खड़ा है।
गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक़्त बहुतेरा पड़ा है।

५५

रागिनी, मत छेड़ मुझको आज, मैं संसार से छेड़ा हुआ हूँ।
काश यह होता कि तेरा साथ मिलता
और दिल को चाह मिलती,
और चलने को, नहीं परवाह, चाहे
जिस तरह की राह मिलती,
किंतु दुश्मन लग गया है संग, उससे
भी मुझे पड़ता उलझना,
रागिनी, मत छेड़ मुझको आज, मैं संसार से छेड़ा हुआ हूँ।

आज भी इतिहास हमको उस ज़माने
की कथाएँ हैं बताते,
जबकि बीसों ओर अपनी शक्तियों को
लोग चलते थे लुटाते
कौन-सा ऐसा किया था पाप जो इस
कापुरुष युग में हुआ मैं,
घेरता संसार को, पर आज मैं संसार से घेरा हुआ हूँ।
रागिनी, मत छेड़ मुझको आज, मैं संसार से छेड़ा हुआ हूँ।

चाहता था मैं उन्हीं नर-नाहरों की
भाँति जीवन को बिताना,
प्रीति करना, गीत गाना, मस्त रहना,
शत्रु को नीचा दिखाना,
उस वज़े की ज़िंदगी का भेद कोई
खो चुका, वरना वही मैं
विश्व को चिंतित बनाता, विश्व-चिंता का कि जो डेरा हुआ हूँ।
रागिनी, मत छेड़ मुझको आज, मैं संसार से छेड़ा हुआ हूँ।

किंतु यदि संसार मुझको छेड़ता है,
घेरता, सिर-दर्द बनता,
तो बिना संदेह मेरा काम पहला
है, अगर मैं मर्द बनता,
सामना उसका करूँ मैं और घुटनों
के तले उसको दबाऊँ
सब जगह असमर्थ हूँ मैं, इस वजह से तो नहीं तेरा हुआ हूँ,
रागिनी, मत छेड़ मुझको आज, मैं संसार से छेड़ा हुआ हूँ।

५६

पीठ पर धर बोझ अपनी राह नापूँ,
या किसी कलि-कुंज में रम गीत गाऊँ ?
जब मुझे इंसान का चोला मिला है,
भार को स्वीकार करना शान मेरी,
रीढ़ मेरी आज भी सीधी तनी है,
सख़्त पिंडली औ' कसी है रान मेरी,
किंतु दिल कोमल मिला है, क्या करूँ मैं,
देख छाया कशमकश में पड़ गया हूँ, सोचता हूँ,
पीठ पर धर बोझ अपनी राह नापूँ,
या किसी कलि-कुंज में रम गीत गाऊँ ?

कौन-सी ज्वाला हृदय में जल रही है
जो हरी दूर्बा-दरी मन मोहती है,
किस उपेक्षा को भुलाने के लिए हर
फूल-कलिका बाट मेरा जोहती है,
किसलयों पर सोहती हैं किसलिए बूँदें
कि अपने आँसुओं को देखकर मैं मुसकराऊँ,
क्या लताएँ इसलिए ही झुक गई हैं,
हाथ इनका थामकर मैं बैठ जाऊँ ?

पीठ पर धर बोझ अपनी राह नापूँ,
या किसी कलि-कुंज में रम गीत गाऊँ ?

किंतु कैसे भूल जाऊँ सामने यह
भार बन साकार देता है चुनौती,
जिस तरह का और जिस तादाद में है,
मैं समझता हूँ इसे अपनी बपौती।
फ़र्ज़ मेरा, ले इसे चलना, जहाँ दम
टूट जाए, छोड़ना मज़बूत कंधों, पंजरों पर;
जो मुझे पुरुषत्व पुरखों से मिला है,
सौ मुझे धिक्कार, जो उसको लजाऊँ।
पीठ पर धर बोझ अपनी राह नापूँ,
या किसी कलि-कुंज में रम गीत गाऊँ ?

वे मुझे बीमार लगते हैं निकुंजों
में पड़े जो राग अपना मिनमिनाते,
गीत गाने के लिए जो जी रहे हैं—
काश जीने के लिए वे गीत गाते—
और वे पशु, जो कि परबस मौन रहकर
बोझ ढोते; नित्य मेरे कंठ में स्वर, भार सिर पर
हो कि जिसमें गीत से मैं भार-हल्का,
भार से संगीत को भारी बनाऊँ।
पीठ पर धर बोझ अपनी राह नापूँ,
या किसी कलि-कुंज में रम गीत गाऊँ ?

५७

बहुत दिए हैं, किस-किस पर तू वारेगा पर, हे परवाने !
नीलम-नील गगन के ऊपर
जितने झलमल करते तारे,
मरकत-हरित धरणि के ऊपर
जितने जाते फूल सँवारे,
उतने दीप जला करते हैं
मन की इस मोहक नगरी में,
बहुत दिए हैं, किस-किसपर तू वारेगा पर, हे परवाने !

एक-एक दीपक के तन में
जाग रही है इतनी ज्वाला,
जलकर क्षार-क्षार हो जाए
लाख-लाख शलभों की माला,
और अनेक अधर-बाती से
बतियाने का तू अरमानी,
कहाँ चला आया, दीवाने, बिन अपना कस-बल पहचाने ।
बहुत दिए हैं, किस-किसपर तू वारेगा पर, हे परवाने !

दीवों के इस जगमग मेले
के अंदर यदि तू तब आता,
जब था तेरे पर-प्राणों को
नवयौवन का ज्वर बलकाता,
शर-सा तू उस लौ पर जाता
जो तुझको पहले दिख जाती,
छूट फुलझड़ी-सा तू जाता विस्मृति के क्षण में अनजाने।
बहुत दिए हैं, किस-किसपर तू वारेगा पर, हे परवाने!

ज्योति शिखाओं पर अब सारी
साथ नज़र जाती है तेरी,
सबका अपना राग अनेरा,
सबकी अपनी आग अनेरी,
और अनेरे सबके ऊपर
पंख विसर्जन करनेवाले,
सबके दाह-दहे अंतस की बात कहे, गा तू वह गाने।
बहुत दिए हैं, किस-किसपर तू वारेगा पर, हे परवाने!

५८

धार पैनी देख उसपर फेरने को हाथ मैं बेज़ार होता।
सब यहाँ कुछ बाहरी, कुछ भीतरी, कुछ
आसमानी, कुछ ज़मीनी,
धार कुछ जाने न जाने, जानती है
वह नहीं ढुलमुल-यक़ीनी,
लाख की भी भीड़ में सबसे अलग हो
जो खड़ी हो, चीज़ है वह,
धार पैनी देख उसपर फेरने को हाथ मैं बेज़ार होता।

मैं अपरिचित हूँ नहीं उन कायरों से
जोकि उससे भागते हैं,
वीर अपने रक्त का कर अर्घ्य अर्पित
दान अपना माँगते हैं,
रूप की देवी निखरती है उसीसे
स्नान करके, कापुरुष का
भीरु, दुर्बल अश्रु दुनिया में किसीको भी नहीं स्वीकार होता।
धार पैनी देख उसपर फेरने को हाथ मैं बेज़ार होता।

धार पर चलना कठिन है पर कठिनतर
धार को पहचानना है,
आँख जो उसको न चूके, माँगती वह
एक युग की साधना है;
वह चपल गायब कभी तलवार से भी,
ओस में भी लपलपाती,
मैं सजग रहता हमेशा तो न मेरा और ही उद्गार होता ?
धार पैनी देख उसपर फेरने को हाथ मैं बेज़ार होता।

जो यहाँ आया कभी न कभी सभी को
मौत है पामाल करती,
फूल से ले वज्र तक वह हर तरह का
अस्त्र इस्तेमाल करती,
काटने तन-तंतु मेरा जब झपटती—
कौन है जो मन छुए वह—
चाहता मैं हाथ उसके तेज़ कोई शब्द का हथियार होता।
धार पैनी देख उसपर फेरने को हाथ मैं बेज़ार होता।

५६

तुम भोगो, तुम जो भाव-भरा मन लाए।

घन बरसे तो मेंड़ बनाकर
खेत जगत ने सींचा,
पर बेकार खड़े पानी को
दोनों हाथ उलीचा,
तुम्हें दिखे बादल की आँखों
में विरही के आँसू,
जिसमें तुमने भी अपने अश्रु मिलाए।
तुम भोगो, तुम जो भाव-भरा मन लाए।

आमों के गुच्छे दुनिया ने
मंजरियों में देखे,
सौरभ की परियों के वे थे
नीड़ तुम्हारे लेखे,
चतुर भ्रमर गुन गीत सुना
पी गए अधर की मदिरा,
तुम रहे तृषा से अपना कंठ जलाए।
तुम भोगो, तुम जो भाव-भरा मन लाए।

फूलों का उपयोग यही है
चुन-चुन हार बनाओ,
लेकिन बीच पड़ें तो उनको
तोड़ो, दूर हटाओ,
हाथों की छाया भी तुमने
भूल न इनपर डाली,
पर ये डालों पर खिलते ही मुरझाए।
तुम भोगो, तुम जो भाव-भरा मन लाए।

प्राणों से प्रिय प्राणहीन की
सेज चिता ही होती,
नहीं पलक पर फिर चढ़ पाता
ढलक पड़ा जो मोती,
बहा राख को भी धारा में
आँख फेर जग लेता,
मृत सपने, पर, तुम छाती से चिपकाए।
तुम भोगो, तुम जो भाव-भरा मन लाए।

६०

तुमने माँगा हृदय प्यार कर सकने वाला,
तुम्हें शिकायत करने का अधिकार नहीं है।
तुम्हें कल्पना मिली स्वर्ग का सपना देखो,
अर्थ नहीं है इसका धरती को अपमानो,
देवों का है ज्ञात बड़प्पन, इसका मतलब
कभी नहीं है इंसानों को छोटा जानो;
प्यार पूर्णता माँगा करता है, यह सच है;
यह भी सच है, प्यार पूर्णता दे सकता है;
तुमने माँगा हृदय प्यार कर सकने वाला,
तुम्हें शिकायत करने का अधिकार नहीं है।

यह किसको मालूम कि किसने किस वेला में
इस पृथ्वी को ही कहकर बैकुंठ दुलारा,
किस भावाकुलता में, कैसी आतुरता से
इस मिट्टी के पुतले को भगवान पुकारा!
और प्रतिध्वनि उसकी अब तक होती आती;
याद नहीं क्या हो आईं कुछ बीती घड़ियाँ?

कौन अभागा है जिसकी सुधियों में संचित
कुछ ऐसे पागलपन का उद्गार नहीं है।
तुमने माँगा हृदय प्यार कर सकने वाला,
तुम्हें शिकायत करने का अधिकार नहीं है।

जो दुनिया को नापा करते हैं रूले से,
करते रोज़ हिसाब कहाँ से, कितना लेना;
जो मन के स्वर्गों से, यह अनुभव करते हैं,
इस जगती को अभी बहुत कुछ देना-देना,
वे त्रुटियों पर क्रोध करें तो कर सकते हैं,
तुम तो उनपर अपने अश्रु बहा सकते हो,
यह नैसर्गिक असन्तोष तप से मिलता है,
सड़कों पर बँटनेवाला उपहार नहीं है,
तुमने माँगा हृदय प्यार कर सकने वाला;
तुम्हें शिकायत करने का अधिकार नहीं है।

६१

बावली-सी घूमती थी वह, उसे मैं देखते ही हो गया आसक्त !
काकुलें छिटकी हुई थीं भाल पर औ'
गाल पर नागिन सरीखी,
किंतु शासन में उन्हें रक्खे हुए थी
चमचमाती आँख तीखी,
　　　　और जिस संसार में हर शख़्स अपने
　　　　पाँव को आगे बढ़ाता,
　　　　बाद को, पहले इरादे औ' निगाहें
　　　　लक्ष्य के ऊपर लगाता,
　　　　वह ठहरती और फिरती थी किन्हीं
　　　　अज्ञात हाथों की चलाई !
बावली-सी घूमती थी वह, उसे मैं देखते ही हो गया आसक्त !

इस गली से, उस थली से, घूर से इस
ढुह से उस, क्यों न जाने
कंकड़ों को जा-बजा वह चुन रही थी
हों कि जैसे वे ख़ज़ाने,
　　　　था जिन्हें फेंका जगत ने जानकर
　　　　बेकार कूड़े की जगह पर,

किंतु जिनकी क़ीमतें वह जानती थी
औ' सँजोती थी परखकर;
आ गई बाज़ार में वह और चारों
ओर उसके भीड़ छाई
दर्शकों की; कम नबी के हों भले, पर अजनबीपन के बहुत-से भक्त।
बावली-सी घूमती थी वह, उसे मैं देखते ही हो गया आसक्त !

खोलकर झोली निकाला एक उसने
लाल पानी का कटोरा,
और संचित कंकड़ों में से उठाकर
एक उसके बीच बोरा,
और जब उसने निकाला तब हथेली
पर उजाला हो गया था,
उस कलुष अपरूप कंकड़ की जगह पर
एक माणिक ही नया था,
सब चकित-चुप थे कि मैंने प्रश्न पूछा,
'हो क्षमा मेरी ढिठाई,
क्या बताओगी कि माणिक में समाई
कौन से द्रव की ललाई ?'
कान में उसने बताया, 'इस कटोरे में भरा है सिर्फ़ कवि का रक्त !'
बावली-सी घूमती थी वह, उसे मैं देखते ही होगया आसक्त !

६२

याद-याद-सी शक्ल तुम्हारी, भूला-भूला नाम तुम्हारा।
देश-काल के अन्तराल को
काट आज सहसा तुम आईं,
खड़ी हो गईं प्रश्न चिह्न-सी
कुछ भरमाईं, कुछ शरमाईं।
'पहचाना ?' तुम पूछ रही हो,
मैं कह सकता हूँ इतना ही—
याद-याद-सी शक्ल तुम्हारी, भूला-भूला नाम तुम्हारा।

क्रूर समय के आघातों के
पीछे जाना चाह रहा हूँ,
दूर यहाँ से, अब से जाकर
पहुँच गया मैं, आह, कहाँ हूँ !
मेरे यौवन की आँखों ने
तुम्हें किसी दिन क्या बाँधा था ?
हाथों ने कुछ बात कही थी हाथ कहीं क्या थाम तुम्हारा ?
याद-याद-सी शक्ल तुम्हारी, भूला-भूला नाम तुम्हारा।

या तुमने अपने नयनों की
मदिरा में था मुझे डुबोया,
समझा था तुम खोई-खोई,
जब मैं था खुद खोया-खोया !

अधकचरे जीवन में मेरे
ऐसे धोखे बहुत हुए हैं—

पिला रहा हूँ तुमको, समझा, जब पीता था जाम तुम्हारा।
याद-याद-सी शक्ल तुम्हारी, भूला-भूला नाम तुम्हारा।

उमड़ी नद्दी की लहरों का
नाम कहाँ होता है, भोली ?
अंधड़ के झड़-झकझोरों का
धाम कहाँ होता है, भोली ?

मेरी हिल्लोलें, कल्लोलें
अब दुनिया के बल-बोलों में,

मेरी सुध-बुध के अधसोए खँडहर से क्या काम तुम्हारा।
याद-याद-सी शक्ल तुम्हारी, भूला-भूला नाम तुम्हारा।

६३

संग तुम्हारे गाऊँगा मैं कब उठकर, आनंद विहंगिनि !

कुछ अँधियारे, कुछ उजियारे
सुनता हूँ जब तान तुम्हारी,
आ जाता है ध्यान कि मुझको
करनी है दिन की तैयारी,
औ' जग-धंधों में पड़ना है
साथ सोचता भी जाता हूँ,
संग तुम्हारे गाऊँगा मैं कब उठकर, आनंद विहंगिनि !

ख़ून-पसीने से दुनिया का
क़र्ज़ चुकाकर जब आता हूँ,
तब रजनी के सूनेपन में
कुछ अपनेपन को पाता हूँ,
और गूँजती हैं कानों में
तब फिर प्रातः की प्रतिध्वनियाँ
औ' ध्वनियों से उत्तर देकर गाता हूँ निर्द्वंद, विहंगिनि !
संग तुम्हारे गाऊँगा मैं कब उठकर, आनंद विहंगिनि !

दिन को नौकर हूँ मैं लेकिन
रातों को राजा बन जाता,
सपना, सत्य, कल्पना, अनुभव
का अद्‌भुत दरबार लगाता;
कहाँ-कहाँ से, किन-किन शाहों
के मुझको संदेशे आते;
जाते हैं फ़रमान जगत में बनकर मेरे छंद, विहंगिनि !
संग तुम्हारे गाऊँगा मैं कब उठकर, आनंद विहंगिनि !

नीड़ों की नीरव नींदों में
तुम क्या मेरी धुन पहचानो,
जिस दुख, सुख को मैं भजता हूँ
तुम क्या उसको जानो, मानो,
डाह बहुत है तुमसे मुझको
मुक्त परों की, मुक्त स्वरों की,
गो न गए दे मुझको कुछ कम जीवन के प्रतिबंध, विहंगिनि !
संग तुम्हारे गाऊँगा मैं कब उठकर, आनंद विहंगिनि !

६४

राज उन्हें करने को दो तुम राज-सिंहासन,
प्यार मुझे करने को तिनकों का घर भर दो।
सिर जो भीतर से छूँछा है उसके ऊपर
चमक-दमक-मय हीरा, मोती, माणिक लादो,
भरा हुआ है भावों से जिसका अंतस्तल
कहाँ उसे उद्गारे, उसको थल दिखला दो,
बढ़ता है अधिकार सदा आतंक जमाकर,
स्नेह प्रतीक्षा में अपलक पथ जोहा करता।
राज उन्हें करने को दो तुम राज-सिंहासन,
प्यार मुझे करने को तिनकों का घर भर दो।

जो औरों के ऊपर शासन करते उनको
ख़ुद औरों के शासन में रहना पड़ता है,
मेरा मन स्वच्छंद सुनाता, गाता उसको,
साँझ-सकारे बैठा जो कुछ वह गढ़ता है;
छाप-मुहर उनके फ़रमानों को बल देते,
मेरे अरमानों में बल मेरी साँसों का,

जो न रुकें दीवारों, गिरि-प्राचीरों, सागर
के तीरों से, आज मुझे तुम ऐसे स्वर दो।
राज उन्हें करने को दो तुम राज-सिंहासन,
प्यार मुझे करने को तिनकों का घर भर दो।

महल-दुमहलों के दरवाज़ों-मेहराबों में
ध्वनित विकारों का भी कोई लेखा-जोखा,
जब-जब उनके नीचे से गुज़रा हूँ, मेरा
हृदय पुकार उठा, सब जड़, सब मुर्दा, धोखा!
उन्हें मुबारक ठस-मजबूत क़िला हो, मैंने
नीड़ बनाया कोमल द्रुम की धुर फुनगी पर;
खर, पर, पत्ता हर तूफ़ान उड़ा ले जाए,
किंतु धड़कता उर में तुम अनुराग अमर दो।
राज उन्हें करने को दो तुम राज-सिंहासन,
प्यार मुझे करने को तिनकों का घर भर दो।

६५

कुछ साहस दो तो बात कहूँ मैं मन की।
देख तुम्हें कितने भावों की
बाढ़ हृदय में आती,
औ' कितनी साधों की भँवरें
नयनों में अकुलातीं,
　　　　　　मैं वाचाल, तुम्हारे सम्मुख
　　　　　　मूक, मगर, हो जाता,
रसना हो जाती है जैसे पाहन की।
कुछ साहस दो तो बात कहूँ मैं मन की।

कभी नहीं, मन कहता, तुमने
की होगी प्रत्याशा,
सुनने की मुझसे जो तुमसे
बोलूँगा मैं भाषा,
　　　　　　फिर न रहेगा चित्र बनाया
　　　　　　जैसा तुमने मेरा,
कंपित करती कल्पना मुझे उस क्षण की।
कुछ साहस दो तो बात कहूँ मैं मन की।

नेत्रों में बिंबित न हुआ क्या
होगा अंतर मेरा ?
देखा होगा तुमने उसमें
किन चाहों का डेरा ?
भेद ढका जो समझ रहा हूँ
खुल न चुका क्या होगा ?
कवि कहते, आँख नहीं मोहताज बचन की।
कुछ साहस दो तो बात कहूँ मैं मन की।

मानव चाहे सब दुनिया से
अपना रूप छिपाए,
कहीं चाहता नग्नतना औ'
नग्नमना रह पाए,
मैं जैसा हूँ, और न मुझको
देखें, तुम तो देखो,
वर्ना, कोई कुछ भी समझे,
एक बड़ी अपने को
मानूँगा मैं धोखेबाज़ी जीवन की।
कुछ साहस दो तो बात कहूँ, मैं मन की।

६६

बनकर केंद्र खड़ी तुम हो तो
मैं जीवन की परिधि बनाऊँ।

किसके चारों ओर न खींचे
मैंने अपने मन के घेरे,
मेरे उर की दुर्बलता के
जग में आकर्षण बहुतेरे,
इतना थिर न रहा कोई भी
परिक्रमा पूरी हो जाती;
बनकर केंद्र खड़ी तुम हो तो
मैं जीवन की परिधि बनाऊँ।

ख़ूब मुझे मालूम कि जग में
सीधी राहें भी बहुतेरी,
चलनेवालों को मंज़िल—
मक़सूद पहुँचने में क्या देरी;
लक्ष्य उन्होंने देख लिया क्या,
पथ के फूल हुए अनदेखे,
और यहाँ पर टेक रही है
काँटों से भी नेह लगाऊँ।

बनकर केंद्र खड़ी तुम हो तो
मैं जीवन की परिधि बनाऊँ।

मधुवन की डाली पर कितनी
फूल और काँटों की दूरी,
पर मैं इनसे समझ रहा जो
उनके अंदर दुनिया पूरी,
छोटे घेरों के अंदर मन
मेरा घबराता, घुटता है,
सुंदर है हर चीज़ यहाँ पर
किसको छोड़ूँ, क्या अपनाऊँ।
बनकर केंद्र खड़ी तुम हो तो
मैं जीवन की परिधि बनाऊँ।

तुम स्वीकार हुईं क्या, मुझको
सब जीवन स्वीकार हुआ है,
इस पथ पर जो कुछ भी मिलता
सबसे मुझको प्यार हुआ है;
स्वर्ग-नरक, साधना-वासना,
सुख-दुख, आशा और निराशा
आलिंगन में बद्ध खड़े हैं;
पाप करूँगा जो अलगाऊँ।
बनकर केंद्र खड़ी तुम हो तो
मैं जीवन की परिधि बनाऊँ।

६७

मेरे मन-प्राणों को मथने को तुमको विधि ने सिरजा है।
युगल तुम्हारी सघन भँवों में
मेरा दिल पथ भूल गया है,
उदित हुआ आयत नयनों में
जैसे कोई क्षितिज नया है,
जन्म अवधि बढ़ता जाऊँगा
तो भी छू न इसे पाऊँगा,
रुक न सकूँगा, लौट न पाऊँगा, फिर भी, यह और मज़ा है।
मेरे मन-प्राणों को मथने को तुमको विधि ने सिरजा है।

मेरी मृदुता इस दुनिया में
बहुत गई रगड़ी-मसली है,
किंतु कठोर नहीं हो पाई
है, तो लगता है, असली है,
नहीं मुझे मालूम बना था
मैं कैसे इसका अधिकारी,
या मैंने कुछ पाप किया था जिसकी, कवि की आँख, सज़ा है।
मेरे मन-प्राणों को मथने को तुमको विधि ने सिरजा है।

ओट गया हो जो पर्वत की
कल्पित उसकी मूर्ति करेगी,
काया जिसकी पास न आई
उसकी छाया को पकड़ेगी।
भावों के सौ डगर-नगर-
खँडहर से होगी भागा-दौड़ी,
और नतीजा इसका जो कुछ होना है वह राम-रज़ा है।
मेरे मन-प्राणों को मथने को तुमको विधि ने सिरजा है।

ओ, सुखमा की आकृतियो, जो
आकुल प्राण किया करती हो,
वह अपराध किया करती हो,
या एहसान किया करती हो,
तुम क्या जानो, कितना भारी !
कितने मन का, कितनी सुधि से,
कितनी बार, करेगा मंथन, मैंने जो यह गीत रचा है।
मेरे मन-प्राणों को मथने को तुमको विधि ने सिरजा है।

६८

इस रुपहरी चाँदनी में सो नहीं सकते पखेरू और हम भी।
पूर्णिमा का चाँद अंबर पर चढ़ा है,
तारकावलि खो गई है,
चाँदनी में वह सफ़ेदी है कि जैसे
धूप ठंडी हो गई है;
नेत्र-निद्रा के मिलन की बीथियों में
चाहिए कुछ-कुछ अँधेरा;
इस रुपहरी चाँदनी में सो नहीं सकते पखेरू और हम भी।

नीड़ अपने छोड़ बैठे डाल पर कुछ
और मँडलाते हुए कुछ,
पंख फड़काते हुए कुछ, चहचहाते,
बोल दुहराते हुए कुछ,
'चाँदनी फैली गगन में, चाह मन में',
गीत किसका है ? सुनाओ !
मौन इस मधुयामिनी में हो नहीं सकते पखेरू और हम भी।
इस रुपहरी चाँदनी में सो नहीं सकते पखेरू और हम भी।

इस तरह की रात अंबर के अजिर में
रोज़ तो आती नहीं है,
चाँद के ऊपर जवानी इस तरह की
रोज़ तो छाती नहीं है,
हम कभी होंगे अलग, औ' साथ होकर
भी कभी, होगी तबीयत,
यह विरल अवसर विसुधि में खो नहीं सकते पखेरू और हम भी।
इस रुपहरी चाँदनी में सो नहीं सकते पखेरू और हम भी।

ये बिचारे तो समझते हैं कि जैसे
यह सबेरा हो गया है,
प्रकृति की नियमावली में क्या अचानक
हेर-फेरा हो गया है;
और जो हम सब समझते हैं कहाँ इस
ज्योति का जादू समझते,
मुक्त जिसके बंधनों से हो नहीं सकते पखेरू और हम भी।
इस रुपहरी चाँदनी में सो नहीं सकते पखेरू और हम भी।

६६

न तुम सो रही हो, न मैं सो रहा हूँ,
मगर यामिनी बीच में ढल रही है।
दिखाई पड़े पूर्व में जो सितारे,
वही आ गए ठीक ऊपर हमारे,
क्षितिज पच्छिमी है बुलाता उन्हें अब,
न रोके रुकेंगे हमारे-तुम्हारे।
न तुम सो रही हो, न मैं सो रहा हूँ,
मगर यामिनी बीच में ढल रही है।

उधर तुम, इधर मैं, खड़ी बीच दुनिया,
हरे राम ! कितनी कड़ी बीच दुनिया,
किए पार मैंने सहज ही मरुस्थल,
सहज ही दिए चीर मैदान-जंगल,
मगर माप में चार बीते बमुश्किल,
यही एक मंज़िल मुझे खल रही है।
न तुम सो रही हो, न मैं सो रहा हूँ,
मगर यामिनी बीच में ढल रही है।

नहीं ग्राँख की राह रोकी किसीने,
तुम्हें देखते रात ग्राधी गई है,
ध्वनित कंठ में रागिनी ग्रब नई है,
नहीं प्यार की ग्राह रोकी किसीने,
बढ़े दीप कबके, बुझे चाँद-तारे,
मगर ग्राग मेरी ग्रभी जल रही है।
न तुम सो रही हो, न मैं सो रहा हूँ,
मगर यामिनी बीच में ढल रही है।

मनाकर बहुत एक लट मैं तुम्हारी
लपेटे हुए पोर पर तर्जनी के
पड़ा हूँ, बहुत खुश, कि इन भाँवरों में
मिले फ़ारमूले मुझे ज़िंदगी के,
भँवर में पड़ा-सा हृदय घूमता है,
बदन पर लहर पर लहर चल रही है।
न तुम सो रही हो, न मैं सो रहा हूँ,
मगर यामिनी बीच में ढल रही है।

७०

आज चंचला की बाहों में उलझा दी हैं बाहें मैंने।
डाल प्रलोभन में अपना मन
सहल फिसल नीचे को जाना,
कुछ हिम्मत का काम समझते
पाँव पतन की ओर बढ़ाना;
झुके वहीं जिस थल झुकने में
ऊपर को उठना पड़ता है;
आज चंचला की बाहों में उलझा दी हैं बाहें मैंने।

काँटों से जो डरनेवाले
मत कलियों से नेह लगाएँ,
घाव नहीं है जिन हाथों में,
उनमें किस दिन फूल सुहाए,
नंगी तलवारों की छाया
में सुंदरता बिहरण करती,
और किसीने पाई हो पर कभी नहीं पाई है भय ने।
आज चंचला की बाहों में उलझा दी हैं बाहें मैंने।

बिजली से अनुराग जिसे हो
उठकर आसमान को नापे,
आग चले आलिंगन करने,
तब क्या भाप-धुएँ से काँपे,

साफ़, उजाले वाले, रक्षित
पंथ मरों के कंदर के हैं;

जिनपर ख़तरे-जान नहीं था, छोड़ कभी दीं राहें मैंने।
आज चंचला की बाहों में उलझा दी हैं बाहें मैंने।

बूँद पड़ी वर्षा की चूहे
और छछूँदर बिल में भागे,
देख नहीं पाते वे कुछ भी
जड़-पामर प्राणों के आगे;

घन से होड़ लगाने को तन-
मोह छोड़ निर्मम अंबर में

वज्र-प्रहार सहन करते हैं वैनतेय के पैने डैने।
आज चंचला की बाहों में उलझा दी हैं बाहें मैंने।

७१

सुमुखि, तब मैं प्यार कर सकता तुम्हें था।
भौंह की तलवार से रक्षित तुम्हारे
युग दृगों को यदि चुराता,
और ले जाकर उन्हें मैं उस नदी के
बीच नहलाता-धुलाता,
जो ख़ुशी के और ग़म के आँसुओं को
साथ लेकर बह रही है,
और जिसकी हर लहर इंसान की सुख-
दुख-कहानी कह रही है,
सुमुखि, तब मैं प्यार कर सकता तुम्हें था।

सीख माँ की, बाप की, अध्यापकों की
बात पुस्तक से उठाई,
चुटकुले हमजोलियों ने जो सुनाए—
बस यही जिनकी कमाई,
कान को ऐसे चुराता यदि तुम्हारे
और ले जाता वहाँ पर,
स्वर्ग का उल्लास, नरकोच्छ्वास दोनों

साथ सुन पड़ते जहाँ पर,
सुमुखि, तब मैं प्यार कर सकता तुम्हें था।

चरफरापन चटपटे का औ' मलाई
के बरफ़ की ठंड जानी
जिस अधर ने, जीभ ने, गन्ने गँडेरी
में रसों की सब कहानी,
मैं उन्हें ले जा अगर संसार, जीवन,
प्यार की तह को छुलाता,
और हालाहल, सुरा के औ' सुधा के
स्वाद से परिचित कराता,
सुमुखि, तब मैं प्यार कर सकता तुम्हें था।

साँस आती और जाती है इसीसे
जो हृदय दबता-उभरता,
और अपनी धौंकनी-सी हरकतों से
रक्त को जो शुद्ध करता,
उस हृदय के साथ लग जब ज्वार-भाटा
भावनाओं का बताता,
और अपनी धड़कनों से उन कपाटों
की सिकुड़ियाँ खटखटाता,
बंद जिनमें भेद हैं जिनको अकेला
कवि ज़माने को सुनाता,
सुमुखि, तब मैं प्यार कर सकता तुम्हें था।

७२

जिन कपाटों की तरफ़ मैं पीठ करता,
फिर न उनकी ओर अपनी दीठ करता।

कल तलक मैं इस प्रतीक्षा में खड़ा था
तुम हृदय का द्वार खोलो,
और जिह्वा, कंठ, तालू के नहीं, तुम
प्राण के दो बोल बोलो;
आज देरी हो चुकी है और मेरे
पाँव धीरज खो चुके हैं;
जिन कपाटों की तरफ़ मैं पीठ करता,
फिर न उनकी ओर अपनी दीठ करता।

क्या तुम्हारा ख़्याल था मैं पाँव अपने
तोड़कर बैठा हुआ हूँ,
औ' तुम्हारी इस उपेक्षा के लिए भी
मैं तुम्हें देता दुआ हूँ;
ज़िन्दगी के रास्ते में ठहरने का
आजकल मौक़ा किसे है;
खेलतीं भी तुम अगर पट दो दफ़ा बस
मुसकराता, दो दफ़ा बस आह भरता।

जिन कपाटों की तरफ़ मैं पीठ करता,
फिर न उनकी ओर अपनी दीठ करता।

और इतने के लिए भी लोग ऐसे
हैं कि जो तरसा किए हैं,
क्योंकि ऐसे ही मिले हैं जो कि दिल पर
लाख की मुहरें दिए हैं,
और उनका हास, उनकी आह, उनकी
बात कुंठा मात्र होती।
मैं मुखर होता अगर तो कौन मेरा
स्वर दबाता, कौन मेरी जीभ धरता।
जिन कपाटों की तरफ़ मैं पीठ करता,
फिर न उनकी ओर अपनी दीठ करता।

और ऐसा है, कि मेरा भ्रम, कि पीछे
से भरी आवाज़ आती ?
और उसको सुन प्रतिध्वनि रूप मेरी
धकधकाती छिन्न छाती;
और कुछ विच्छिन्न कड़ियाँ जोड़ लेने
के बहाने थम गया हूँ,
बोल, कवि के मन, तुझे क्या आज अपनी
ज़िद नहीं रह-रह खटकती,
प्रण नहीं रह-रह अखरता।
जिन कपाटों की तरफ़ मैं पीठ करता,
फिर न उनकी ओर अपनी दीठ करता।

७३

सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को
किस तरफ़ फैला रहा है ?

सूर्य-शशि के वंश में पैदा हुआ तू,
कीर्ति जिनकी जग उजागर,
वास तेरा तीर्थ, जिसको अनगिनत जन
हैं गए माथा झुकाकर,
हिम शिखर की स्वच्छ औ' पावन हवा ने
है जिन्हें उड़ना सिखाया,
सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को
किस तरफ़ फैला रहा है ?

देख अपने साथियों को जो धरा से
बद्ध होकर हाथ अपने
हैं गगन की ओर फैलाए, बसाए
आँख में सतरंग सपने।
एक वे हैं, जो कि अपनी साधना से
पंक से ऊपर उठे हैं,
एक तू है, पंख अपना नीच कीचड़
में फँसाने जा रहा है।

सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को
किस तरफ़ फैला रहा है ?

और यह मत भूल तूने इस जगत में
क्या बड़ा सम्मान पाया !
कुंद-इंदु-तुषार-हार-धवल गिरा ने
है तुझे वाहन बनाया।
मोतियों का जो करे आहार, खाने
के लिए कतवार, टूटे !
सोच, तेरे साथ तेरे देवता पर
दाग़ लगने जा रहा है।
सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को
किस तरफ़ फैला रहा है ?

वह मिली सत्ता तुझे, तू याद आए
जब सजाए प्रात प्राची,
वह महत्ता, न्याय और विवेक का तू
बन गया पर्यायवाची,
वह मिला व्यक्तित्व तुझको जो कि सागर
बीच उतराए समुज्ज्वल;
चेत हंस कुमार, डाबर है कि जिसमें
डूबने तू जा रहा है।
सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को
किस तरफ़ फैला रहा है ?

७४

आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर।
आज पथ में साथ जो होगा
सगा भाई बनेगा,
हाल भर जो पूछ लेगा
स्वर्ग-सुखदायी बनेगा,
जो चुभा, उसको कहूँगा
पद पकड़कर है बिठाता,
आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर।

हाँ, कभी संसार, जीवन,
काल से आशा बड़ी थी,
एक गज़ को नापने को
एक योजन की छड़ी थी;
तब निराशा आँख फाड़े
हर दिशा से देखती थी;
और था अभिशाप ही अभिशाप हर वरदान मुझपर।
आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर।

स्वप्नमाती पुतलियों ने
सत्य को कूड़ा समझकर

है हज़ारों बार फेंका
घूर पर, गंदी जगह पर,
फाड़ कितने गीत डाले
रद्दियों की टोकरी में,
औ' बना क्रंदन पुराना, सृष्टि का नव गान मुझपर।
आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर।

पर न जाने कब लगा, यह
स्वप्न है अभिमान मेरा,
मैं स्वयं कितने अभावों
औ' कुभावों का बसेरा;
यह मनुजता, यह प्रकृति
मुझको लगीं बहनें सहोदर;
फूल-सा लगने लगा जो था कभी पाषाण मुझपर।
आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर।

अब नहीं सँग में प्रणय के
चाहिए बलिदान मुझको,
आज तो अभिभूत करने
को बहुत मुसकान मुझको,
आज करुणा के दृगों से
देखता कोई मुझे तो,
मैं समझता हूँ कि नज़रें डालता भगवान मुझपर!
आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर।

७५

आज तुम घायल मृगी-सी आ रही हो,
मैं न खोलूँ द्वार कैसे !
एक दिन घायल हरिण-सा मैं तुम्हारे
द्वार पर आया हुआ था,
श्वेत सरसिज-पंखुरी-सी उँगलियों से,
पर, नहीं तुमने छुआ था;
घाव तो भरता समय, संवेदनाएँ
भाव पर मरहम लगातीं,
आज तुम घायल मृगी-सी आ रही हो,
मैं न खोलूँ द्वार कैसे !

मैं अचानक ही भयानक जग-अरण्यक
में विचरता आ गया था,
किंतु उसकी नीति-रीति न जानता था
एकदम भोला, नया था,
एक अनजानी दिशा से तीर आया,
बिंध गया, मैं छटपटाया;
क्रूरता इतनी जहाँ पर है, न होगा
उस जगह पर प्यार कैसे !

आज तुम घायल मृगी-सी आ रही हो,
मैं न खोलूँ द्वार कैसे !

और जब तुमने न पूछी बात, समझा
मैं कि धोखा खा रहा हूँ,
जिन कपाटों पर कड़े जँदरे जड़े हैं
मैं उन्हें खड़का रहा हूँ;
और अब मैं जानता हूँ वे किसीकी
चोट से ही टूटते हैं;
जिस किसीने चोट पर चोटें सही हों,
वह बनेगा मर्द परदेदार कैसे !
आज तुम घायल मृगी-सी आ रही हो,
मैं न खोलूँ द्वार कैसे !

स्वागतम् सबको सुनाकर कह रहा हूँ,
स्नेह लो, संवेदना लो,
हाथ मेरा दाग़ से डरता नहीं है,
रक्त की धारा धुला लो;
यह समय का तीर लगता है सभी को,
शुक्रिया इसके लिए है;
कर गया मानव मुझे जो, मैं न उसका
मानता आभार कैसे !
आज तुम घायल मृगी-सी आ रही हो,
मैं न खोलूँ द्वार कैसे !

औ' न अपना दोष देखो, औ' न मेरा
गुण सराहो, आर्द्रनयने,
तीर तुमको ही प्रथम लगता अगर तो
मैं न करता, आर्त बयने,
ठीक वैसा ही कि तुमने जो किया था ?
जानता कोई नहीं है—
कब, कहाँ पर, कौन पोंछेगा, किसीके
आँसुओं की धार, कैसे !
आज तुम घायल मृगी-सी आ रही हो,
मैं न खोलूँ द्वार कैसे !

७६

साथ भी रखता तुम्हें तो, राजहंसिनि,
क्या हमारे प्यार का परिणाम होता !

जब कहा मैंने कि है यह शुक्र जो
वेला विदा की पास आई,
कुछ तअज्जुब, कुछ उदासी, कुछ शरारत
से भरी तुम मुसकराईं,
वक्त के डैने चले, तुम हो वहाँ, मैं
हूँ यहाँ, पर देखता हूँ,
साथ भी रखता तुम्हें तो, राजहंसिनि,
क्या हमारे प्यार का परिणाम होता ?

स्वप्न का वातावरण हर चीज़ के
चारों तरफ़ मानव बनाता,
लाख कविता से, कला से पुष्ट करता,
अंत में वह टूट जाता,
सत्य की हर शक्ल खुलकर आँख के
अंदर निराशा झोंकती है,
और वह धुलती नहीं है ज्ञान-जल से,
दर्शनों से, मरमिटे इंसान धोता।

साथ भी रखता तुम्हें तो, राजहंसिनि,
क्या हमारे प्यार का परिणाम होता !

शीर्ष आसन से रुधिर की चाल रोको,
पर समय की गति न थमती।
औ' ख़िज़ाबोरंग-रोग़न पर जवानी
है न ज़्यादा दिन बिलमती,
सिद्ध यह करते हुए जाते अगिनती,
द्वार खोलो और देखो,
और इस दयनीय-मुख के काफ़ले में
जो न होता सुबह को, वह शाम होता।
साथ भी रखता तुम्हें तो, राजहंसिनि,
क्या हमारे प्यार का परिणाम होता !

एक दिन है, जब तुम्हारे कुंतलों से
नागिनें लहरा रही हैं,
और मेरी तनतनाई बीन से ध्वनि-
राग की धारा बही है,
और तुम जो बोलती हो, बोलता मैं,
गीत उसपर शीश धुनता,
और इस संगीत-प्रीति समुद्र-जल में
काल जैसे छिप गया है मार गोता।
साथ भी रखता तुम्हें तो, राजहंसिनि,
क्या हमारे प्यार का परिणाम होता !

ग्रौर यह तस्वीर कैसी, नागिनें सब
केंचुलों का रूप धरतीं,
ग्रौ' हमें जब घेरता है मौन उसको
सिर्फ खाँसी भंग करती,
ग्रौ' घरेलू कर्ण-कटु झगड़े-बखेड़ों
को पड़ोसी सुन रहे हैं,
ग्रौर बेटों ने नहीं है ख़र्च भेजा,
ग्रौर हमको मुँह चिढ़ाता ढीठ पोता।
साथ भी रखता तुम्हें तो, राजहंसिनि,
क्या हमारे प्यार का परिणाम होता !

७७

धरती को फाड़ बहार निकल आई बाहर,
अंदर घुटतीं मेरे मन की अभिलाषाएँ।
कुहरे को फाड़ प्रकाश निकल आया बाहर,
बादल को फाड़ समीर सहज गतिवान हुआ,
डालों की छालें फाड़ निकल आए पल्लव,
जल का तल फाड़ सरोरुह-रवि छविमान हुआ,
जो मिट्टी कल काली, गीली, तृणक्षीणा थी,
रंगीनी उसके ऊपर आज निसार हुई,
धरती को फाड़ बहार निकल आई बाहर,
अंदर घुटतीं मेरे मन की अभिलाषाएँ।

जो धूल-धुआँरा नभ था, नीलाकाश हुआ,
जो हवा काटती थी, सहलाती गालों को,
जो शाख़ डराती थी, आँखों को भाती है,
पंकज आमंत्रण देता राज-मरालों को;
मैंने तो अपने बचपन से यह देखा था
पहले पौधा बढ़ता, फिर फूल निकलता है,
जब फोड़ धरा को फूल निकल आएँ पहले,
क्यों कोई आँखें फाड़ न मुँह को फैलाए।

धरती को फाड़ बहार निकल आई बाहर,
अंदर घुटतीं मेरे मन की अभिलाषाएँ।

हर पेड़ हरा, हरियाली की सौ क़िस्में हैं,
हर फूल रँगीला है अपनी ही रंगत में,
हल्का-गहरा होकर सौ है हर एक रंग,
होता हज़ार दूसरे रंग की संगत में;
आँखें रंगों के मेले से परितृप्त हुईं,
मेरी पूरब की नाक खोजती ख़ुश्बू भी,
वह यहाँ नहीं, इस वक़्त रात की रानी,
क्यों चंपा, मेंहदी की याद न मुझको तड़पाए।
धरती को फाड़ बहार निकल आई बाहर,
अंदर घुटतीं मेरे मन की अभिलाषाएँ।

हो गंध न इनमें, लेकिन रस तो होता है,
वरना भौंरा कैसे लिपटा-चिपटा रहता,
हो खड़े किसी भी तरुवर के नीचे जाकर
ऊपर से चिड़ियों के स्वर का झरना बहता;
हल्के-झीने परिधान पहन गौरांगिनियाँ
बैठीं-लेटीं प्रियतम को लेकर लानों में,
हम परदेसी कमरे में बैठ न गीत लिखें,
तो किस ग़ोशे में जा अपने को बहलाएँ।
धरती को फाड़ बहार निकल आई बाहर,
अंदर घुटतीं मेरे मन की अभिलाषाएँ।

७८

बौरे ग्रामों पर बौराए भौंर न ग्राए, कैसे समझूँ मधुऋतु ग्राई।
माना ग्रब ग्राकाश खुला-सा ग्रौर धुला-सा
फैला-फैला, नीला-नीला,
बर्फ़-जली-सी, पीली-पीली दूब हरी फिर,
जिसपर खिलता फूल फबीला,
तरु की निरावरण डालों पर मूँगा, पन्ना
ग्रौ' दखिनहटे का झकझोरा,
बौरे ग्रामों पर बौराए भौंर न ग्राए, कैसे समझूँ मधुऋतु ग्राई।

माना, गाना गानेवाली चिड़ियाँ ग्राईं,
सुन पड़ती कोकिल की बोली,
चली गई थी गर्म प्रदेशों में कुछ दिन को
जो, लौटी हंसों की टोली,
सजी-बजी बारात खड़ी है रंग-बिरंगी,
किंतु न दूल्हे के सिर जब तक
मंजरियों का मौर-मुकुट कोई पहनाए, कैसे समझूँ मधुऋतु ग्राई।
बौरे ग्रामों पर बौराए भौंर न ग्राए, कैसे समझूँ मधुऋतु ग्राई।

डार-पात सब पीत पुष्पमय जो कर लेता
अमलतास को कौन छिपाए,
सेमल और पलाशों ने सिंदूर-पताके
नहीं गगन में क्यों फहराए ?
छोड़ नगर की सँकरी गलियाँ, घर-दर, बाहर
आया, पर फूली सरसों से
मीलों लंबे खेत नहीं दिखते पियराए, कैसे समझूँ मधुऋतु आई।
बौरे आमों पर बौराए भौंर न आए, कैसे समझूँ मधुऋतु आई।

प्रात: से संध्या तक पशुवत् मेहनत करके
चूर-चूर हो जाने पर भी,
एक बार भी तीन सैकड़े पैंसठ दिन में
पूरा पेट न खाने पर भी,
मौसम की मदमस्त हवा पी जो हो उठते
हैं मतवाले, पागल, उनके
फाग-राग ने रातों रक्खा नहीं जगाए, कैसे समझूँ मधुऋतु आई।
बौरे आमों पर बौराए भौंर न आए, कैसे समझूँ मधुऋतु आई।

७६

धरती में सोए फूल, कली फिर जागो !

नील गगन से मग्न उतरती
नग्न किरण की माला,
अब उतारकर फेंको तुम भी
तन से हिम का गाला,
शीत चुका है बीत, बसंती
निकला पुनः सबेरा,
धरती में सोए फूल, कली फिर जागो !

आँखों ने देखीं फिर तरुवर
की शाखें अखुआईं,
हवा दखिनहीं घूम रही है
भरमाई, भरमाई,
उसके चुंबन से झड़ती हैं
मणि-मरकत की लड़ियाँ,
तुम भी अपना वरदान उठो अब माँगो।
धरती में सोए फूल, कली फिर जागो !

भ्रमरों के होठों में जागी,
फिर से प्यास पुरानी;
पर कच्ची कलि के अधरों से
क्या पाते वे ? पानी !

समय विकसने, मधु, पराग से
भरने में लगता है,
संयम से लो कुछ काम, अधीर, अभागो !
धरती में सोए फूल; कली फिर जागो !

मैंने अपनी बीन सँभाली,
तार कसे सब ढीले,
सुरा सुरों की खींची, जिसको
पीनी हो वह पी ले,

हाथ नशीले और उँगलियाँ—
रस में भीगी-भीगी,
प्राणों में गूंजो फिर, प्रणयी के रागो !
धरती में सोए फूल, कली फिर जागो !

८०

अब दिन बदले, घड़ियाँ बदलीं,
साजन आए, सावन आया।

धरती की जलती साँसों ने
मेरी साँसों में ताप भरा,
सरसी की छाती दरकी तो
कर घाव गई मुझपर गहरा,
है नियति-प्रकृति की ऋतुओं में
संबंध कहीं कुछ अनजाना,
अब दिन बदले, घड़ियाँ बदलीं,
साजन आए, सावन आया।

तूफ़ान उठा जब अंबर में
अंतर किसने झकझोर दिया,
मन के सौ बंद कपाटों को
क्षण भर के अंदर खोल दिया,
झोंका जब आया मधुवन में
प्रिय का संदेश लिए आया—
ऐसी निकली ही धूप नहीं
जो साथ नहीं लाई छाया।

अब दिन बदले, घड़ियाँ बदलीं,
साजन आए, सावन आया।

घन के आँगन से बिजली ने
जब नयनों से संकेत किया,
मेरी बे-होश-हवास पड़ी
आशा ने फिर से चेत किया,
मुरझाती लतिका पर कोई
जैसे पानी के छींटे दे,
औ' फिर जीवन की साँसें ले
उसकी म्रियमाण-जली काया।
अब दिन बदले, घड़ियाँ बदलीं।
साजन आए, सावन आया।

रोमांच हुआ जब अवनी का
रोमांचित मेरे अंग हुए,
जैसे जादू की लकड़ी से
कोई दोनों को संग छुए,
सिंचित-सा कंठ पपीहे का,
कोयल की बोली भीगी-सी,
रस-डूबा, स्वर में उतराया
यह गीत नया मैंने गाया।
अब दिन बदले, घड़ियाँ बदलीं,
साजन आए, सावन आया।

८१

मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा, इसकी मुझको लाज नहीं है।
जिसने कलियों के अधरों में
रस रक्खा पहले शरमाए,
जिसने अलियों के पंखों में
प्यास भरी वह सिर लटकाए,
आँख करे वह नीची जिसने
यौवन का उन्माद उभारा,
मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा, इसकी मुझको लाज नहीं है।

मन में सावन-भादों बरसे,
जीभ करे, पर, पानी-पानी!
चलती-फलती है दुनिया में
बहुधा ऐसी बेईमानी,
पूर्वज मेरे, किंतु, हृदय की
सच्चाई पर मिटते आए,
मधुवन भोगे, मरु उपदेशे मेरे वंश रिवाज नहीं है।
मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा, इसकी मुझको लाज नहीं है।

चला सफ़र पर जब तब मैंने
पथ पूछा अपने अनुभव से,
अपनी एक भूल से सीखा
ज़्यादा, औरों के सच सौ से,
मैं बोला जो मेरी नाड़ी
में डोला, जो रग में घूमा,
मेरी वाणी आज किताबी नक़्शों की मोहताज नहीं है।
मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा, इसकी मुझको लाज नहीं है।

अधरामृत की उस तह तक मैं
पहुँचा विष को भी चख आया,
और गया सुख को पिछुआता
पीर जहाँ वह बनकर छाया,
मृत्यु गोद में जीवन अपनी
अंतिम सीमा पर लेटा था,
राग जहाँ पर, तीव्र अधिकतम है, उसमें आवाज़ नहीं है।
मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा, इसकी मुझको लाज नहीं है।

८२

मैं तुम्हारा स्नेह, संवेदन, समादर चाहता हूँ,
पर नहीं उस दाम पर जो माँगते तुम।

स्नेह, संवेदन, समादर की ज़रूरत,
कौन ऐसा है, नहीं महसूस करता,
और कुछ सौभाग्यशाली हैं कि जिनपर
यह सुखद झरना अचानक फूट पड़ता,

किंतु मैं हर बूँद की क़ीमत अदा कर चाहता हूँ
लूँ पलक पर, या अधर पर, या बदन पर;
मैं तुम्हारा स्नेह, संवेदन, समादर चाहता हूँ,
पर नहीं उस दाम पर जो माँगते तुम।

औ' तुम्हारे घर नहीं जल की कमी है,
पर तुम्हारे अर्घ्य की तब धार बहती,
जब नगर-घर ख़ाक हो जाता किसीका,
जब किसीके सिर न तृण की छाँह रहती;

औ' तुम्हारे अर्घ्य में कितना प्रलोभन
है कि कुछ घर फूँक ख़ुद बनते तमाशा,

और जो हैं आग से संघर्ष करते, होड़ लेते
भूल करके भी न उनको ताकते तुम।
मैं तुम्हारा स्नेह, संवेदन, समादर चाहता हूँ,
पर नहीं उस दाम पर जो माँगते तुम।

औ' तुम्हारे घर न दीपों की कमी है,
पर तुम्हारी आरती तब है सँवरती,
जब किसीके नेत्र-दिल के दीप बुझते,
जब किसीपर रात अँधियारी उतरती,
औ' तुम्हारी आरती में क्या प्रलोभन
है कि कुछ अपने दिए खुद ही बुझाते,
और जो तम को झगड़-लड़ चूर करते, दूर करते
भूल करके भी न उनको ताकते तुम।
मैं तुम्हारा स्नेह, संवेदन, समादर चाहता हूँ।
पर नहीं उस दाम पर जो माँगते तुम।

सब समझ मैंने लिया, तुमको नहीं है
खोज उनकी जो कि अधिकारी बने हैं,
स्नेह, संवेदन, समादर के; तुम्हें तो
खोज उनकी जो कि लाचारी बने हैं,
ज़िंदगी की, वक़्त की, जिनको कि करुणा
का बनाकर पात्र तुम यश-पुण्य लूटो।
ख़ैरियत है, युद्ध मेरे अग्नि-ज्वाला
से, अँधेरे से, ज़माने से ठने हैं।

स्नेह-संवेदन-समादरणीय बन पाऊँ, न पाऊँ;
मैं नहीं दयनीय बनना चाहता हूँ;
साफ़ सौदा यह नहीं, अपनी दया का मूल्य ज़्यादा
और मेरे मान का कम आँकते तुम।
मैं तुम्हारा स्नेह, संवेदन, समादर चाहता हूँ,
पर नहीं उस दाम पर जो माँगते तुम।

८३

यह कमल का वास है, दादुर,
इसे पहचान तू सकता नहीं है।
भूमि सूखी है कि नम है,
धूप चटकी है कि तम है,
स्वाद कड़ुआ है कि मीठा,
रव कि नीरवता अगम है,
यह सभी तू जानता है,
मानता हूँ, पर बड़ी है नाक तो क्या,
यह कमल का वास है, दादुर,
इसे पहचान तू सकता नहीं है।

यह नहीं छीलर कि जिसमें
तू छपकछैया करेगा,
या हवा, जिसमें मकोड़ों
को पकड़ मुँह में धरेगा;
साँस, अथवा, फेफड़े की,
गाल जो तुझको बजाने में मदद दे;
और जग में कुछ, कहीं उपयोग
का है, जान तू सकता नहीं है।

यह कमल का वास है, दादुर,
इसे पहचान तू सकता नहीं है।

यह कमल की पूर्ण सत्ता
का बड़ा बारीक सत है,
गानरत की प्राण-ध्वनि है,
या किसी कवि का कवित है,
या कि विरही यक्ष का उच्छ्वास
जिससे मेघदूत प्रसूत होता,
या निमंत्रण यक्षिणी का
मौन बैठी जो कि अलका में कहीं है।
यह कमल का वास है, दादुर,
इसे पहचान तू सकता नहीं है।

भौंर सुनता यह निमंत्रण,
और गिरि-वन खंड करता
पार, आता, गुनगुनाता,
और पंकज में समाता;
नाक तुझको, सूँघने की
सूक्ष्मता तुझमें कहाँ, कीचड़-विहारी,
कीट-भक्षी जीभ से मकरंद—
मधु को छान तू सकता नहीं है।
यह कमल का वास है, दादुर,
इसे पहचान तू सकता नहीं है।

८४

लाख देवता तुम हो, मेरी, किंतु, वेदना क्या जानोगे !
अंतर्दृष्टि मिली है तुमको,
देखो भूत, भविष्यत् देखो,
चीज़ तुम्हें दिखलाई देगी,
किंतु कहाँ बल, क़ीमत देखो,
जिसपर मैं बिकता, बलि होता
आया, समझ नहीं तुम सकते,
लाख देवता तुम हो, मेरी, किंतु, वेदना क्या जानोगे !

कथा नहीं है सुन लेने की;
जिसके पाँव न जाय बिवाई—
वृद्ध इसे कहते आए हैं—
वह क्या जाने पीर पराई;
पथ का तुम इतिहास बता दो,
वर्णन कर दो पाँव भरे भी,
किंतु भरे दिल के अंदर जो, क्या तुम उसको पहचानोगे !
लाख देवता तुम हो, मेरी, किंतु, वेदना क्या जानोगे !

दर्द भुगतने वालों की भी
हमदर्दी को देख चुका हूँ,
मत मेरा मुँह खुलवाओ, मैं
भीतर-भीतर बहुत फुँका हूँ,
अब दरकार नहीं है उसकी,
काफ़ी मैं एहसान तुम्हारा
मानूँगा, अपने हँसने की वस्तु न जो मुझको मानोगे।
लाख देवता तुम हो, मेरी, किंतु, वेदना क्या जानोगे !

नहीं मुझे मालूम कि मेरी
साँसों का यह जो दो-तारा,
इसको कसकर झंकृत करने
में कितना है हाथ तुम्हारा,
है तो, मेरे एक प्रश्न का
उत्तर दे सकते हो ? पूछूँ ?
मेरे जीवन की वीणा को और अभी कितना तानोगे ?
लाख देवता तुम हो, मेरी, किंतु, वेदना क्या जानोगे !

८५

मैं सिफ़ारिश से तुम्हारा प्यार पाऊँ, तो न पाऊँ !

कामना कुछ प्राप्त करने की हुई तो
प्रथम अधिकारी बना हूँ,
और फिर मैं काल के, संसार के, औ'
भाग्य के आगे तना हूँ;
मैं वहाँ झुककर जहाँ झुकना ग़लत है,
स्वर्ग ले सकता नहीं हूँ,
मैं सिफ़ारिश से तुम्हारा प्यार पाऊँ, तो न पाऊँ !

झूठ बुलवाए न जिह्वा, सर्वदा मैंने
नहीं है न्याय पाया,
और थोड़ी-सी अकड़ से, जानता हूँ,
जो न पाया, जो गँवाया,
योग्यता की पोल में क्या चीज़ भरकर
कुछ उसे सीधी किए हैं,
रीढ़ ही जो तोड़ बैठे होड़ क्या उनसे लगाऊँ !
मैं सिफ़ारिश से तुम्हारा प्यार पाऊँ, तो न पाऊँ !

वे कहेंगे क्या, न जिसको साँस मेरी
रात-दिन कहती रही है,
झूठ मेरे प्राण की ध्वनि, और उनकी
जीभ की चुलबुल सही है,
जबकि मेरे बोल खुद कहते नहीं हैं
वे हृदय से फूटते हैं,
सिद्ध करने को इसे क्या और से क़समें खिलाऊँ !
मैं सिफ़ारिश से तुम्हारा प्यार पाऊँ, तो न पाऊँ !

और जब उनकी प्रतिध्वनि ही तुम्हारे
बोल से आती नहीं है,
तो मुझे यह जान लेना चाहिए था
हो रही ग़लती कहीं है;
घाटियाँ आवाज़ पर आवाज़ देतीं
और गलियाँ मौन रहतीं;
चल, अभागे मन, कहीं अब और में तुझको रमाऊँ !
मैं सिफ़ारिश से तुम्हारा प्यार पाऊँ, तो न पाऊँ !

८६

मैं सदा संसार से लड़ता रहा हूँ,
बस यही है हार मुझको, जीत मुझको।
हूँ नहीं उन धाकड़ों में जो कि अपनी
चाक पर जग को चलाकर हैं बिठाते
धाक अपनी, औ' न उनमें जो जगत के
हुक्मनामों पर ठहरते, पग बढ़ाते;
जो खड़े होकर तमाशा देखते हैं,
पूछते हैं क्या हुआ इसका नतीजा;
मैं सदा संसार से लड़ता रहा हूँ,
बस यही है हार मुझको, जीत मुझको।

बाँध जो बंदूक़ औ' तलवार फिरते,
बस उन्हें दुनिया सिपाही मानती है;
किंतु बे-हथियार के जो जंग करते
ढंग उनका वह कहाँ पहचानती है;
युद्ध करते सैकड़ों यों मौन रहकर
और उनका घाव, उनकी चोट, पीड़ा
जानता कोई नहीं उनके अलावा;
कुछ मुखरने को मिला है गीत मुझको।

मैं सदा संसार से लड़ता रहा हूँ,
बस यही है हार मुझको, जीत मुझको।

एक दुनिया है हृदय के बीच में भी
जो किसीको भी नहीं देती दिखाई,
और इसको जानता कोई नहीं है
जिस तरह मैंने वहाँ पर की लड़ाई,
जो वहाँ पहनी फ़तह की फूलमाला,
जो वहाँ गिरकर धरा की धूल चाटी;
है मुझे फूला नहीं देखा विजय ने
औ' पराजय ने नहीं, भय-पीत मुझको।
मैं सदा संसार से लड़ता रहा हूँ,
बस यही है हार मुझको, जीत मुझको।

कौन कहता है कि आधी रात को मैं
बैठ शब्दों के तुकों को जोड़ता हूँ,
भावना के भेद को जो हैं दबाए
सत्य में, उन पत्थरों को तोड़ता हूँ,
आग निकले या कि जल की धार निकले,
राग मधुमय या करुण चीत्कार निकले,
चीरकर जो संग की छाती निकलती
है विकलता, बस वही संगीत मुझको।
मैं सदा संसार से लड़ता रहा हूँ,
बस यही है हार मुझको, जीत मुझको।

८७

और, जो ऊँचे उचकते; स्वाभिमानी,
पैठ तू गहरे-गँभीरे !

आसमानी इस प्रलोभन में, बता तो,
क्या अनोखा, क्या नया है,
जो कि इसको लोकने को लोभियों का
आज मेला जुड़ गया है;
होड़ इनसे, जोड़ इनके साथ करने
की नहीं तुझको ज़रूरत,
और, जो ऊँचे उचकते; स्वाभिमानी,
पैठ तू गहरे-गँभीरे !

है बड़ा अचरज कि नर ने किस तरह फिर
बानरी आकार पाया,
रीढ़ जो थी की गई सीधी, मनुज ने
किस तरह उसको झुकाया;
आज तू अपवाद बनकर बैठ जिससे
सिद्ध फिर संसार में हो,
फिर पड़ी होती नहीं हैं जो कि अपने
से खड़ी होतीं लकीरें।

और, जो ऊँचे उचकते; स्वाभिमानी,
पैठ तू गहरे-गँभीरे !

और ये जितने उछलते-कूदते हैं
क्या सभी कुछ पा रहे हैं ?
कुछ न पाएँ, पर ज़माने की नज़र में
तो उभरते आ रहे हैं;
जो कि अपने को दिखाते घूमते हैं,
देखते ख़ुद को कहाँ हैं,
और ख़ुद को देखनेवाली नज़र
नीचे सदा रहती गड़ी, रे !
और, जो ऊँचे उचकते; स्वाभिमानी,
पैठ तू गहरे-गँभीरे !

और इस हल्की हवा फुल्की सतह पर
दीखता उड़ता हुआ जो,
या कि है कीड़ा-मकोड़ा, या कि रजकण,
या कि जो तिनका, भुआ जो;
दाँत से इनको पकड़कर कुछ बड़े ख़ुश
हो रहे हैं, पर तुझे तो
सिर्फ़ लेना है अतल गहराइयों से
ठीकरे हों या कि हीरे !
और, जो ऊँचे उचकते; स्वाभिमानी,
पैठ तू गहरे-गँभीरे !

८८

तेरे मन की पीर ओसकण समझेंगे, न कि तारे।

नीलम-नील महल के ऊपर
मणि-दीपों की माला;
गया असर कर क्या तुझपर भी
वैभव का उजियाला !

अंतर आभावाले, तेरी
क़द्र वहाँ पर क्या है !
नीचे का पानी रस, रस के अंदर अमृत धारे।
तेरे मन का मोल ओसकण समझेंगे, न कि तारे।

उच्चासन आसीन भले ही
तुझे दुआएँ दे लें,
गो ज़्यादा संभव है तेरी
क़िस्मत से वे खेलें;

ताज पिन्हा दें तो भी, होगा
ठुकराई किरणों का;
जल की बूँद प्रतीक्षा में है, तेरे पाँव पखारे।
तेरे मन का मान ओसकण समझेंगे, न कि तारे।

जड़ता के इस चाकचक्य पर
आँख सभी की जाती,

किंतु किसीने इसके पीछे
सुनी धड़कती छाती ?
यह पानी की बूँद पखुरियों
की साँसों पर हिलती;
यह अपनी पुतली में सारे नभ का दर्द सँवारे।
तेरे मन का भार ओसकण समझेंगे, न कि तारे।

चमक-दमक या तड़क-भड़क को
समझ न अंतर्ज्वाला,
नहीं हुआ करता हर जलने-
वाला गलनेवाला,
गले-ढले ही जले हुओं की
पीर परख पाते हैं,
इन जल-तन वालों ने जाने हैं मन के अंगारे।
तेरे मन का ताप ओसकण समझेंगे, न कि तारे।

आदि काल से पृथ्वी का दुख-
ताप उन्होंने देखा,
किन्तु नहीं उनके आनन पर
पड़ी एक भी रेखा;
इन बूँदों पर एक-एक क्षण-
कण की कसक सिसकती;
व्यथा-कथा संसृति की छूते इनके कोर-किनारे।
तेरे मन की पीर ओसकण समझेंगे, न कि तारे।

८९

तारों का सारा नभ-मंडल, आँसू का नयनों का घेरा।
एक दिवस यह आज़ादी थी--
जल-कण लूँ, या रत्न गगन का;
क्षण न लगा मुझको निर्णय में,
मालिक था मैं अपने मन का;
अपना भाग्य चुना जब मैंने
तब भी यह मालूम मुझे था--
तारों का सारा नभ-मंडल, आँसू का नयनों का घेरा।

ठीक पसंद सदा थी मेरी--
कब मैंने दावा दिखलाया,
एक बड़ी सूची है उनकी
जिनको अपनाकर पछताया,
फूलों के ऊपर भी आया,
शूलों के ऊपर भी आया,
किंतु कभी भी अब तक मैंने आँसू का उपहार न फेरा।
तारों का सारा नभ-मंडल, आँसू का नयनों का घेरा।

तारों की आभा में ऐंठा
बैठा लगता है अभिमानी,
आँखों के पानी में झलका
करती जग की दर्द-कहानी,
एक बूँद से भी दुनिया का
ताप बहुत कुछ मिट जाता है;
लाखों तारे कर पाते हैं किसके घर का दूर अँधेरा।
तारों का सारा नभ-मंडल, आँसू का नयनों का घेरा।

पलकों के भरते ही अंतर
लेने लगता है हलकोरे,
अंतर के हलकोरों ने ही
वे सब कूल-कगारे तोड़े,
बोरे, जो मानव मानव के
बीच बनाते हैं सीमाएँ;
और उन्हींके ऊपर चलता आया है भावों का, बेड़ा।
तारों का सारा नभ-मंडल, आँसू का नयनों का घेरा।

९०

उम्र ही मेरी चुकी है बीत जीवन-विश्व से लड़ते-झगड़ते।
शाप मेरा था बड़ा सबसे, कि अपने
साथ मैं था स्वप्न लाया,
और बिगड़ी आदतों की आँख को जब
सत्य जगती का न भाया,
तब सिवा विद्रोह करने के नहीं था
और कोई पास चारा,
उम्र ही मेरी चुकी है बीत जीवन-विश्व से लड़ते-झगड़ते।

औ' ग़लत या ठीक समझो, अस्त्र अपना
शब्द को मैंने चुना था,
क्रांतिकारी, पूर्व मेरे भी, इसीसे
लड़ चुके थे, यह सुना था;
तब नहीं था ज्ञान इनपर शान रखने
की हुआ करती ज़रूरत;
धार इनको दे वही पाते इन्हें जो हैं कलेजे से रगड़ते।
उम्र ही मेरी चुकी है बीत जीवन-विश्व से लड़ते-झगड़ते।

और मेरे साथ बहुतों ने शुरू की
थी ज़माने से लड़ाई,
किंतु उनकी ही ज़बानें गा रही हैं
आज उसकी गुण-बड़ाई,
और मैं संसार से आरंभ करके
साथ अपने लड़ रहा हूँ,
दो विरोधी शत्रु मुझमें सर्वदा से हैं रहे दबते-उभरते।
उम्र ही मेरी चुकी है बीत जीवन-विश्व से लड़ते-झगड़ते।

हूँ न उनमें जो उदर के औ' कमर के
बीच में मस्तिष्क पाए,
औ' न उनमें, जो कि दुनिया से परे हो
इश्क़ मस्ताना लगाए;
आदमी हूँ, दम्भ इसका है, बना हूँ
देवता-पशु का रणस्थल,
और तै है श्वान करते संधि जीवन से कि पहुँचे संत करते।
उम्र ही मेरी चुकी है बीत जीवन-विश्व से लड़ते-झगड़ते।

६१

गूँजा करते हैं जो तेरे अंतर्मन में,
उनमें कोई क्या झीना स्वर मेरा भी है ?

निर्जन पर्वत पर बहनेवाला निर्झर जो
जो गीत शिलाखंडों के बीच सुनाता है,
क्या इसे पूछने को कब रमता-थमता है,
म[illegible]ई उसको सुनता-गुनता, अपनाता है;
'स्वांतः सुखाय', फिर, तुलसी गाया करते हैं,
मुझसे तो यह साधना बरी जा सकी नहीं;
इतनी जड़ता के ऊपर, इतनी चेतनता
के नीचे, मुझको प्रश्न सदा अकुलाता है—
गूँजा करते हैं जो तेरे अंतर्मन में,
उनमें कोई क्या झीना स्वर मेरा भी है ?

पर्वत, घाटी, सरिता के तट से, खँडहर से
मेरे रागों की प्रतिध्वनियाँ तो आती हैं,
दर्पण में दिखलाई पड़नेवाली छाया
किसके तन का एकाकीपन हर पाती है ?
हूबहू नक़ल करके वे मेरे लहजों का
उपहास नहीं करती हैं, तो क्या करती हैं ?

जो उनके उत्तर में उभरे, सिहरे, धड़के,
मैं पूछ रहा हूँ, क्या ऐसी भी छाती है ?
जो तू दुहराती कड़ी अकेली साँझों को
उनमें कोई टूटा आखर मेरा भी है
गूँजा करते हैं जो तेरे अंतर्मन मे
उनमें कोई क्या झीना स्वर मेरा भी है।

कितनों ने अपने मन के महल ढहाए हैं
तेरा राजप्रासाद खड़ा हो अंबर में,
कितनों ने अपने घर के दीप बुझाए हैं
जगमग-जगमग हर कोना हो तेरे घर में,
कितनों ने अपने जी के बाग़ उजाड़े
फूलों से तेरी सेज सजे सतखंडे पर
मेरी सारी पूँजी कुछ मुखरित सपने थे;
अपनी तनहाई की अलसाई भुरहर[1] में
तू याद जगा जिनकी अँगड़ाई लेती है
उनमें कोई सोया खँडहर मेरा भी है
गूँजा करते हैं जो तेरे अंतर्मन मे
उनमें कोई क्या झीना स्वर मेरा भी है।

[1] (अवधी) भोर, सुबह

६२

माना मैंने मिट्टी, कंकड़, पत्थर, पूजा;
अपनी पूजा करने से तो मैं बाज़ रहा।

र्पण से अपनी चापलूसियाँ सुनने की
बको होती है, मुझको भी कमज़ोरी थी,
किन तब मेरी कच्ची गदहपचीसी थी,
कोरा था, मन भोला था, मति भोरी थी,
है धन्यवाद सौ बार विधाता का जिसने
दुर्बलता मेरे साथ लगा दी एक और;
माना मैंने मिट्टी, कंकड़, पत्थर पूजा;
अपनी पूजा करने से तो मैं बाज़ रहा।

रती से लेकर, जिसपर तिनके की चादर,
बर तक, जिसके मस्तक पर मणि-पाँती है,
ा है, सबमें मेरी दयमारी आँखों को
जय करनेवाली कुछ बातें मिल जाती हैं;
खुलकर, छिपकर जो कुछ मेरे आगे पड़ता
मेरे मन का कुछ हिस्सा लेकर जाता है,
इस लाचारी से लुटने और उजड़नेवाली
हस्ती पर मुझको हर लमहा नाज़ रहा।

माना मैंने मिट्टी, कंकड़, पत्थर पूजा,
अपनी पूजा करने से तो मैं बाज़ रहा।

यह पूजा की भावना प्रबल है मानव में,
इसका कोई आधार बनाना पड़ता है,
जो मूर्ति और की नहीं बिठाता है अंदर,
उसको ख़ुद अपना बुत बिठलाना पड़ता है;
यह सत्य, कल्पतरु के अभाव में रेंड़ सींच
मैंने अपने मन का उद्गार निकाला है;
लेकिन एकाकी से एकाकी घड़ियों में
मैं कभी नहीं बनकर अपना मोहताज रहा।
माना मैंने मिट्टी, कंकड़, पत्थर पूजा;
अपनी पूजा करने से तो मैं बाज़ रहा।

अब इतने ईंटें, कंकड़, पत्थर बैठ चुके,
वह दर्पण टूटा, फूटा, चकनाचूर हुआ,
लेकिन मुझको इसका कोई पछताव नहीं
जो उनके प्रति संसार सदा ही क्रूर हुआ;
कुछ चीज़ें खंडित होकर साबित होती हैं;
जो चीज़ें मुझको साबित साबित करती हैं,
उनके ही गुण तो गाता मेरा कंठ रहा,
उनकी ही धुन पर बजता मेरा साज़ रहा।
माना मैंने मिट्टी, कंकड़, पत्थर पूजा;
अपनी पूजा करने से तो मैं बाज़ रहा।